भारतीय सस्कृति के आधार-स्तम्भ

डॉ० रामलाल वर्मा

सूर्य-प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली-६

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

'भारतीय सस्कृति के आधार स्तम्भ' सुधी पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे व्यष्टि को समष्टि का रूप दे पाने की सफलता से प्रसन्नता हो रही है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्यसृष्टि को पुत्रोत्पत्ति मानते हुए काव्य सजन की अकुलाहट को 'प्रसव वेदना' के समकक्ष माना है और रचना के उपरान्त साहित्यकार को मिलने वाली चरम सन्तुष्टि को 'प्रसव-वेदना से निवृत्ति' की सज्ञा दी है। लेखक भी प्रस्तुत कृति को साकार रूप देकर प्रसव-वेदना की निवृत्ति के रूप म चरम सृष्टि की अनुभूति कर रहा है। "निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होइ अथ होइ कि फीका" के अनुसार मेरी तो यह सन्तति है और मुझे प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। इसका सही मूल्याकन करने वाले तो आप मेरे सहृदय पाठक ही हैं। सस्कृत की एक उक्ति—कन्या के सौन्दय की परख तो पति ही करता है, पिता नही—म भी इसी तथ्य को वाणी दी गई है।

मैंने अपनी इस रचना मे आदिकवि बाल्मीकि से लेकर आधुनिक काल मे मनु कहलाने वाले भारतीय सविधान के निर्माता डॉ० अम्बेडकर प्रभति दिव्य विभूतियो के जीवन के उन पक्षो को उजागर किया है, जिससे भारतीय-सस्कृति इस प्रकार महिमा मण्डित हुई है कि विश्व की अनक सभ्यताओ और सस्कृतियो के कालकवलित हो जाने

पर भी आज तक चिरयुवती बनी हुई है, प्रखर तेजस्विता से देदीप्यमान अपना भाल गर्व और गौरव में उन्नत किये हुए है। महाकवि इकबाल के शब्दों में—

यूनानो मिस्रो रोमा सब मिट गये जहाँ से।
अब तक मगर है बाकी नामोनिशां हमारा॥
कोई बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़मां हमारा॥

मैं इस पुस्तक का नाम "हिन्दू संस्कृति के आधार स्तम्भ" रख सकता था, क्योंकि हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति का अपर नाम ही है। अतः यहाँ मैं सर्वप्रथम इस तथ्य को स्पष्ट करना आवश्यक समझता हूँ कि भारतीय-संस्कृति हिन्दू संस्कृति से भिन्न नहीं। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। एक ही तत्व के दो नाम हैं।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि दुष्यन्त शकुन्तला—पुत्र भरत के जन्म से पूर्व इस देश का नाम 'हिन्दुस्थान' था। सिन्धु नदी के तट पर रहने वाले सभी जातियों के लोग बिना किसी भेदभाव के 'सिन्धु' कहलाते थे। अवेस्ता परिवार की भाषाओं में 'स' ध्वनि के 'ह' ध्वनि में परिवर्तन की प्रवृत्ति मिलती है। इसी आधार पर भविष्य पुराण में सप्तसिन्धु के स्थान पर "हप्तहिन्धु" शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि सिन्धु शब्द ही इन्दु बन गया। पहले यह शब्द नदी विशेष के लिए और 'सिन्धु' शब्द नदी तट के लोगों तथा उनकी भाषा आदि के लिए प्रयुक्त होता था। इसी की प्रतिध्वनि मुहम्मद इकबाल के गीत में मिलती है—

'हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।"

परन्तु कालान्तर में धीरे धीरे 'हिन्दु' और 'हिन्दी' शब्द पर्याय बनते गए और फिर हिन्दु व्यक्तियों के लिए और हिन्दी उनकी भाषा आदि के लिए व्यवहृत होने लगा।

इतिहास साक्षी है कि इस देश में मुसलमानों के आने से बहुत पहले देश के उत्तरी भाग में आर्य दक्षिणी भूभाग में द्रविड़ और थोड़े से पूर्वोत्तर प्रदेश (आसाम) में मंगोल रहते थे। ये सभी अपने आपको बिना

किसी सकोच के 'हिन्दु' कहते थे। ईसवी पहली शताब्दी मे हूण शक और कुषाण जाति के आक्रामक पराजित होकर जब सदा के लिए इस देश मे बस गए तो यहा के निवासी हिन्दुओ ने अपनी उदारता, सहनशीलता तथा विनिमय की प्रवृत्ति के अन्तर्गत ग्रहणशीलता के कारण उन्हे अपना लिया। अनेक आचार विचारो को अपने अनुकूल बनाकर अपनी अपनी सस्कृति का अग बना लिया। फलत वे हिन्दु और उनकी सस्कृति हिन्दू सस्कृति कहलाने लगी। इस प्रकार विभिन्न विदेशी जातियो का इस देश मे आकर बसने का, यहा के रग मे रगने का क्रम शताब्दियो नही सहस्राब्दियो तक चलता रहा है। हिन्दू समाज इस देश मे आने वाली विभिन्न जातियो को अन्तर्भुक्त करता रहा है और सभी जातियो के लोग नि सकोच रूप से अपने को हिन्दू कहते रहे हैं।

हिन्दू समाज की दूसरी जातियो को आत्मसात करने की शक्ति को प्रथम आघात इस्लाम के आक्रामक और विजेता रूप मे यहा आने पर लगा। मुसलमानो ने न केवल अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखा अपितु हिन्दू धर्म को मिटाने के भी प्रयत्न किए। इस प्रकार मुसलमानो के आने पर इस देश मे हिन्दू सस्कृति के सामने एक दूसरी सस्कृति का उदय हुआ, फिर इधर आधुनिक काल मे विजेता अग्रेजो ने एक तीसरी ईसाई सस्कृति का प्रचार प्रसार किया।

इस प्रकार मुसलमानो और अग्रेजो के इस देश मे आगमन से पूर्व इस देश का नाम 'हिन्दुस्थान' था और इस देश का रहने वाला—भले हो वह किसी जाति और धर्म से सम्बन्धित क्यो न हो—अपने को हिन्दू ही कहता कहलवाता था। फलत इस देश की सस्कृति भी हिन्दू सस्कृति कहलाती थी। जब मुसलमान अपने को हिन्दू अथवा हिन्दी कहलाने पर सहमत नही हुए तब भारत और भारतीय शब्दो के प्रचलन ने जोर पकडा। यहाँ यह कहना अन्यथा स्थान न होगा कि विश्व के सभी देशो के लोग आज भी सभी हिन्दुस्तानियो (पाकिस्तानियो तक को भी) को 'हिन्दी' शब्द से ही सम्बोधित करते हैं—यह एक नग्न सत्य है।

विभिन्न विद्वानों ने हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति तथा व्याख्या अपने अपने ढग से की है। किसी ने 'हिंसा न करने वाले" किसी ने 'दहिक पापो और

चित्त के विकारों का नाश करने वाले" तो किसी ने "दुष्टो को दण्डित करने वाले को' हिंदू कहा है। वीर सावरकर के अनुसार—"भारत को अपनी मातृभूमि और पुण्यभूमि समझने वाला अर्थात इस देश के साहित्य, संगीत कला, धर्म, दर्शन, रीति रिवाजो आचार विचारो, रूढ़ियों प्रथाओं-परम्पराओं का आदर करने वाला हिंदू है। हमारे विचार मे इन परिभाषाओ के आधार पर इस देश के किसी भी निवासी को 'हिन्दू' कहलाने म आपत्ति नही होनी चाहिए। सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन के अनुसार—"हिंदू धर्म किसी भी धार्मिक विश्वास अथवा उपासना के स्वरूप पर बल नही देता। हिंदू विद्वान मानव-जाति विज्ञान तथा दर्शन के पण्डित थे। अतएव उन्होंने धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध मे कभी बल प्रयोग नहीं करना चाहा। धर्म सम्बन्धी मनोमालिन्य तभी प्रारम्भ होता है जब हम ईश्वर सम्बन्धी अपनी कल्पना को मान्य ठहराते हैं। यहाँ तो सर्वमान्य धारणा ही यह है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

अर्थात जिस प्रकार सीधे टेढ़े मार्ग से गुजरने वाली नदियो का गन्तव्य समुद्र है उसी प्रकार सभी उपासना-पद्धतियो का प्राप्तव्य एक ही है। उसी एक को ही विभिन्न नामो से पुकारा जाता है—उपनिषद के ऋषि का यह उदघोष हिंदू धर्म का मेरुदण्ड है।

इस प्रकार हिंदू शब्द किसी धर्म विशेष के अनुयायी का वाचक न होकर इस देश के निवासी का ही अर्थ देता है। इस रूप म हिंदू संस्कृति और भारतीय संस्कृति एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। अंतर केवल यह है कि एक नाम प्राचीन है और दूसरा अर्वाचीन अन्यथा हिन्दू संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की वह मुख्य धारा है जो विभिन्न संस्कृतियों को अपने मे समाहित करती हुई निरन्तर प्रवाहित होती रही है। डॉ० सम्पूर्णानन्द के शब्दो म—'इस मिली जुली संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका ताना-बाना वही है जिसे 'आर्य या हिन्दू' नाम से उपलक्षित किया जाता है। बाने के सूत

इधर-उधर से आए हैं, पर वे सब ताने पर आश्रित है। गगा म बहुत-सी छोटी-बडी नदियाँ मिलती हैं, परन्तु मिलने पर जो पयस्विनी बनती है, वह गगा ही कही जाती है। इस न्याय से भारतीय सस्कृति को हिंदू सस्कृति ही कहना चाहिए। भारत के बाहर जब लोग भारतीय सस्कृति का नाम लेते हैं तो निश्चय ही उनका सकेत इस सस्कृति की मुख्य धारा की ओर इसी प्रकार होता है, जिस प्रकार कि भारतीय दशन की चर्चा करने वालो के सामने साख्य, योग और वेदान्त आदि आय दशन होते हैं।" कृति के नामकरण का आधार यही है।

भारतीय सस्कृति विश्व की उत्कृष्टतम सस्कृति है। इसकी उदात्तता का प्रधान तत्त्व है—"इसकी सत्य के अनुसधान की प्रवृत्ति।" भारतीय विचारको ने जगत की विरामहीन परिवतनशीलता को देखकर उसे असार मानते हुए जगत के सार रूप नित्य अविनाशी सत्ता की खोज की। उस सत्ता को परब्रह्म नाम देकर इस विश्व को उस अविनाशी का व्यक्त रूप मानते हुए घोषित किया कि अभिव्यक्ति के स्तर के अनुसार ही एक ब्रह्म विभिन्न नामो रूपो स अभिहित किया जाता है।

भारतीय सस्कृति मानव जीवन का लक्ष्य—इसी सत्य की प्रतीति मानती है। इसका ही दूसरा नाम ब्रह्म की प्राप्ति है। इस सस्कृति की मान्यता है कि मानव के दु खो का मूल कारण अपने अन्तस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार न कर पाना है।

हिन्दू सस्कृति की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता इसका जड, अनुदार स्थिर और रूढिवादी न होना है। इसम जब भी जडता आई है तभी किसी अवतारी महापुरुष ने इसका पुन सस्कार करके इसे अभिनव उज्ज्वल रूप दिया है। उदाहरणाथ उपनिषदो का प्रवाह जब दुराग्रहपूण विवाद मे ग्रस्त हो गया, शुष्क शास्त्राथ के ज्वर ने धार्मिक चेतना को बेसुध कर दिया, तब भगवान् बुद्ध ने सत्य की सरलता और आचरण की शुद्धता पर बल देकर इसे अपूव तेजस्विता को परिपूर्ण कर दिया। इसी प्रकार जब शास्त्राय सस्कृति एव निरथक पांडित्य ने धम को शास्त्रवाद के व्यूह मे जकड लिया, तभी गीताकार ने मानवमात्र के लिए स्वग का द्वार उन्मुक्त कर दिया। समय आने पर आचाय शकर ने इस सस्कृति को जो

गरिमा दी, उसकी आभा अभी मन्द नहीं हुई। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, नानक, कबीर तथा सूर तुलसी आदि महापुरुषों ने इस संस्कृति को समय-समय पर उज्ज्वल बनाया है।

आधुनिक काल में इस संस्कृति के संरक्षकों में स्वामी दयानन्द स्वामी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, योगिराज अरविन्द तथा महात्मा मोहनदास करमचंद गांधी आदि कतिपय उल्लेखनीय महानुभाव हैं।

इस प्रकार हिन्दू संस्कृति को अजर-अमर एवं स्वर्णिम आभामय रूप प्रदान करने में धर्म, समाज, राजनीति, दर्शन, साहित्य एवं कला आदि क्षेत्रों के अनेक मनीषियों का योगदान रहता है। इन तपस्वियों को ही लेखक इस संस्कृति के आधार स्तम्भ मानता है। इन सब महानुभावों का एक ही पुस्तक में समावेश न तो सम्भव था और न ही वान्छनीय।

अतः लेखक जिन लब्धप्रतिष्ठ महानुभावों को इस पुस्तक में स्थान नहीं दे सका, उनसे क्षमा याचना करता है तथा विवेकशील पाठकों से उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए लेखक की सीमा को समझने का विनम्र निवेदन करता है।

भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ कतिपय उज्ज्वल रत्नों को लेकर हम पाठकों के समक्ष उपस्थित हैं। हमारा विश्वास है कि पुस्तक में संग्रहीत दिव्य विभूतियों के माध्यम से पाठकों को भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं, चिरंतन तत्त्वों और दिव्य गुणों को समझने में सहायता मिलेगी।

सुधी पाठकों ने यदि हमारा उत्साह बढ़ाया तो हम इस माला का एक अन्य पुष्प उन्हें समर्पित करने का प्रयास करेंगे।

प्रस्तुत कृति को तय्यार करते समय जिन रचनाओं से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सहायता ली गई है उनके लेखकों का मैं कृतज्ञ हूँ तथा लेखन के समय जिन मित्रों ने परामर्श देकर मेरा मार्ग प्रशस्त किया है उनका भी मैं आभारी हूँ।

सुधी पाठकों के सुझावों का सदा स्वागत किया जाएगा।

एफ-४७, लाजपत नगर I, नई दिल्ली २४

२६ जनवरी १९९०

निवेदक

डॉ० रामलाल वर्मा

आदि कवि वाल्मीकि

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा ।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम ॥

'ऐ व्याध ! तुम्हे ससार म सदा रहने वाली प्रतिष्ठा कभी न मिले, क्योकि तूने कामक्रीडा मे रत क्रौंच पक्षी के युगल मे से एक का वध कर दिया है।"

भारतीय सस्कृति के गौरव ग्रन्थ रामायण के रचयिता कवि वाल्मीकि को 'आदिकवि' के नाम से स्मरण किया जाता है। इसका यह अथ यही कि इनसे पूव कविता ही नही रची गई। वैदिक-वाड मय तो इन म बहुत पहले ही लिखा जा चुका था। ऋग्वेद का उषा-सूक्त कविता की दष्टि स एव प्रकृति-वणन की दष्टि से बहुत पहले ही ख्याति प्राप्त कर चुका था। इन्हे आदिकवि का नाम इसलिए दिया गया कि इन्होंने पहली बार वैदिक साहित्य की परम्परागत लीक से हट कर लौकिक सस्कृत मे रामायण क माध्यम से मर्यादा पुरुषोत्तम राम के कथानक को जनमानस मे उतारने का सफल प्रयास किया। इस वृहद एव सफल प्रयास के कारण ही कवि-परम्परा मे इन्हें आदिकवि की उपाधि से विभूषित किया गया है।

कवि वाल्मीकि का अवतरण जिस युग-सधि मे हुआ था, उस समय देवयुग का अन्त होने जा रहा था। उस समय देवयुग का तो अवसान हो रहा था, पर उसके स्थान पर कोई नई मूर्ति प्रतिष्ठित न हो पायी थी जो जन मानस की श्रद्धा या विश्वास का केन्द्र बन सके। उन दिनो आवश्यकता थी ऐसे किसी महामानव की, जो देवो म प्रतिष्ठित सदगुणो

और अमरकथाओं को वहन कर भारतीय संस्कृति के आदर्शों की पुनीत धारा का भगीरथ बन कर समृद्धि और ऐश्वर्य की गंगा को जन-जन तक ले जा कर उनके संताप का हरण कर सकता। उस युग के इस प्रश्न का उत्तर दिया आदिकवि वाल्मीकि ने जिन्होंने रामायण के आरम्भ में स्वयं इस प्रश्न को उठाकर महामुनि नारद के माध्यम से उत्तर दिया था—

आदिकवि का प्रश्न था कि संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो गुणवान, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकारक, सत्यवक्ता और दृढ़प्रतिज्ञ हो। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो सदाचारी, लोकहित-साधक, विद्वान और जितेन्द्रिय है? आदि आदि। महामुनि नारद के समक्ष ये प्रश्न उठाकर कवि ने नारद के माध्यम से स्वयं ही इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा—

इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा, महावीर्यो, द्युतिमान धृतिमान वशी॥
बुद्धिमान नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्शत्रु निबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥

बालकाण्ड में वर्णित श्लोक ९ से २४ तक कवि ने जिस व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया है, वह है मर्यादा पुरुषोत्तम राम। इस आदर्श चरित्र की स्थापना कर कवि ने अपने युग के प्रश्न का उत्तर दे दिया, और आगे चलकर रामकथा के माध्यम से श्रीराम ने जिन गुणों की प्रतिष्ठा की, जिस प्रभाव का वर्णन किया, उसी का परिणाम था कि देवयुग के अवसान के पश्चात् राम सदृश महामानव की प्रतिष्ठा हुई, जिसने वैदिक युग से प्रवहमान भारतीय-संस्कृति के सम्पूर्ण गुणों को अपने व्यक्तित्व में समाहित किया और जन-जन के हृदय-मंदिर में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। कवि द्वारा प्रतिपादित महामानव श्रीराम ने अपने कार्यकलापों के द्वारा जिन मानदण्डों की प्रतिष्ठा की, वही मानदण्ड भारतीय संस्कृति के विशिष्ट गुणों से विभूषित महामानव एवं आदर्श चरित श्रीराम के स्रष्टा कवि वाल्मीकि के जन्म के विषय में भी अन्य अनेक महाकवियों की भाँति कोई लिपिबद्ध और क्रमबद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं है। इनके विषय में प्रचलित अनेकविध किंवदन्तियों में से एक के अनुसार ये व्याध तक

कहा गया है। वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण में उल्लिखित तथ्यों के अनुसार इन्हें मुनि प्रचेता का पुत्र कहा गया है। "प्रचेतसोऽहृदशम पुत्र राघवनन्दन" मनुस्मृति में प्रचेता को पुलस्त्य, वशिष्ठ आदि मुनियों का भाई कहा गया है। इसी प्रकार स्कन्द पुराण में इन्हें जन्मान्तर का व्याध बताया गया है। व्याध के जन्म से पूर्व इन्हें वत्सगोत्रीय ब्राह्मण भी कहा गया है, जिन्होंने शंख ऋषि के सत्संग से ज्ञान प्राप्त किया था। बाद के जन्म में यह रत्नाकर के नाम में विख्यात हुए, पर पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण इस जन्म में भी यह क्रूरकर्मा व्याध बने रहे। आगे चल कर सप्त ऋषियों के संपर्क में इनके संस्कार बदल गए। तपस्या लीन होने पर इनके ऊपर मिट्टी की बाँबी बन जाने के कारण ही इन्हें वाल्मीकि नाम प्राप्त हुआ।

प्रामाणिक जीवन-चरित्र के अभाव में कुछ भी कहा जाए, तब भी उनका वास्तविक व्यक्तित्व तो इनकी अमरकृति रामायण के प्रति शब्द और श्लोक में निहित है। व्यक्ति की वास्तविक पहचान तो इसकी सृष्टि में से ही हो पाती है। इस दृष्टि में प्रचेता मुनि की संतान वाल्मीकि ने रामायण और श्रीराम के रूप में भारत को जो दिया है, इसकी यश पताका युगा-युगों तक विश्व में फहराती रहेगी।

रामायण की सृष्टि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार कवि संध्या-वंदन के लिए तमसा नदी तट पर गए, तो इस समय नदी के उथले जल में केलि करते क्रौंच युगल में से वहां विद्यमान एक व्याध ने एक (नर) को तीर मारकर मार डाला। कवि से यह दृश्य देखा न गया। करुणा विगलित कवि के नेत्र अश्रुपूरित हो गये। साथी के मारे जाने से क्रौंची के विलाप से कवि बहुत व्याकुल हो उठे और क्रोध में आ कर उन्होंने व्याध को शाप दे डाला, ए निषाद! तुम्हें संसार में कभी प्रतिष्ठा न मिले। तूने क्रीडारत क्रौंच युगल में से एक को अकारण ही वध कर दिया है।

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काममोहितम॥

इस शाप को गुनगुनाते हुए अश्रुपूरित मुनि जब अपने आश्रम को लौटे तो उन्हें देख कर शिष्यों ने गुरुजी की इस अवस्था का कारण

जानना चाहा। इस पर कवि ने उन्हें बताया कि कुछ नहीं, शोक ने श्लोक को जन्म दिया है।

शोकातस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।

शोक श्लोकत्व मागत ॥ आदि

कवि की इस करुणा ने ही करुण-काव्य रामायण की रचना की। परदुख कातर कवि का व्यक्तित्व ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम, करुणामयी सीता, भाव गंभीर भाई भरत आदि पात्रों की सृष्टि करने में समर्थ हो सका है।

कविवर वाल्मीकि की यह कृति लौकिक संस्कृत की प्रथम कृति कही जाती है। लौकिक संस्कृत की परम्परा के अभाव में भी कवि ने इसे जिस रूप में प्रस्तुत किया उसकी जितनी श्लाघा की जाए, कम है। इस रचना में काव्य की दृष्टि से रस छन्द -अलंकार, गुणादि का जिस रूप में समावेश किया गया है, वह कवि के बहुआयामी व्यक्तित्व और कवि कर्म की महत्ता का परिचायक है। महाकाव्य में वर्णित सभी विशेषताओं का समावेश इस कृति में किया गया है।

ऋतु वर्णन के सन्दर्भ में प्रकृति चित्रण, राम, भरत, रावण, हनुमान आदि पात्रों के कथनों में वर्णित राजनीति, ऋषि मुनियों के उदात्त उपदेशों में निहित हिन्दू दर्शन एवं चिंतन का चित्रण हनुमान द्वारा सीता के समक्ष राम के व्यक्तित्व वर्णन में उनका सामुद्रिक ज्ञान अपना उपमान आप ही है। इसी प्रकार वनवास जाने से पूर्व-सीता हरण के बाद एवं रावण से युद्ध से पूर्व और युद्ध के समय कवि ने जिन शकुनों की चर्चा की है उससे उनके शकुन शास्त्र की जानकारी तथा अन्यान्य प्रसंगों में ज्योतिष, दर्शन, राजनीति, आध्यात्मिकता आदि का ज्ञान सर्वविदित है। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुसार 'रामायण से भारत ने जो पाना चाहा वह उसे मिला।"

सत्य तो यह है कि आदि कवि ने रामायण के माध्यम से भारतीय-संस्कृति की समृद्ध परम्परा को प्रवाहमान बना कर भारत की भावी पीढ़ियों और मानवता का पथ प्रदर्शन किया है। रामायण में वर्णित आदर्श चरित्र विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम एक

आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श राजा और आदर्श मित्र हैं। ऐसा चरित्र विश्व-साहित्य में कहाँ? आदिकवि ने एक ही चरित्र में विविध विशेषताओं और चरित्रों का समावेश कर विश्व को बताया है कि श्रीराम सरीखे व्यक्तित्व ही विपन्न और हतप्रभ मानवता का पथप्रदर्शन कर सकते हैं। आदर्श पुत्र बनने के लिए वह राज्य छोड़ सकता है, आदर्श राजा बनने के लिए वह परिवार के सुख को भी तिलांजलि दे सकता है आदि-आदि। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मन में गुहनिषाद, भीलनी और केवट के लिए भी उतना ही स्नेह एवं सौहार्द है, जितना कि नगर-जीवन में रहते हुए अपने बन्धु-बान्धवों के लिए। उन्हें सुग्रीव, हनुमान, नल-नील आदि सहायक उतने ही प्रिय हैं जितने कि अपने बन्धु-बान्धव। कई अर्थों में बन्धु-बान्धवों से भी वे अधिक प्रिय हैं। ऐसा व्यक्तित्व भला विश्व-साहित्य में तलाशने पर भी कहाँ मिलेगा?

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का मातृभूमि प्रेम भी तत्कालीन एवं परवर्ती समाज के लिए प्रेरणादायक है। लंका विजय के पश्चात् लंका के ऐश्वर्य की चकाचौंध से प्रभावित भ्राता लक्ष्मण एवं अन्य सहायकों के बीच उनका यह कथन कितना सटीक और अर्थपूर्ण है—

> अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
> जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

आदिकवि वाल्मीकि सर्वगुण और सर्वविद्या सम्पन्न थे। उन्होंने अयोध्या वासियों द्वारा उपेक्षित और श्रीराम द्वारा परित्यक्ता सीता को आश्रय देकर सिद्ध किया कि उन्हें मात्र स्व कल्याण या स्व मोक्ष की चिन्ता नहीं, अपितु उपेक्षितों की रक्षा एवं परिपालन भी उनके जीवन का चरम-लक्ष्य है। वनदेवी सीता को प्रश्रय देने के उपरान्त उन्होंने लव-कुश को शस्त्रास्त्रों की जो दीक्षा दी और रण-कौशल सिखाया, वे उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं।

भारतीय-संस्कृति को जीवंत और गतिमान बनाए रखने का जितना दायित्व प्राचीन शासकों का रहा होगा, उससे अधिक दायित्व वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम में दीक्षित ऋषि-मुनियों का था। इस दृष्टि से भारत

की आरण्यक-सस्कृति का महत्त्व नगर-सस्कृति से बहुत अधिक माना जाता रहा है।

महर्षि वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण के माध्यम से जो आदश वादिता प्रस्तुत की है, वह मात्र हिंदुत्व का ही सबल नही है, अपितु उससे सम्पूण मानवता भी प्रेरणा लेती रही है। भविष्य म यह कृति भारत की भावी पीढियो के लिए एव विश्व मानवता के लिए प्रकाशस्तम्भ का काय करती रहेगी। नि सदेह कवि के व्यक्तिगत जीवन से सबद्ध सामग्री हम बहुत कम मिलती है, पर उनकी कृति और कृति म वर्णित एव चित्रित पात्रो म उनकी प्रतिभा और जीवन-दृष्टि के दशन कर पाठक का उनकी सवतोमुखी प्रतिभा के समक्ष सिर झुक जाता है।

महर्षि व्यास

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम ।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम ॥

"अठारह पुराणो के अध्ययन का सार रूप व्यास जी की दो ही बातें हैं। परोपकार से पुण्य की प्राप्ति होती है और दूसरो को पीडित करने से पाप लगता है।

भारतीय सस्कृति के व्याख्याता महर्षि व्यास हिन्दू-जीवन-परम्परा के एक देदीप्यमान प्रकाश स्तम्भ हैं। इनकी अमर कृतियो न हिन्दू परम्परा के लिए सजीवनी शक्ति का काय किया था। इन्होंने वेद मन्त्रो को विषयानुसार सहिताओ का स्वरूप प्रदान किया। जातीय महाकाव्य महाभारत की रचना कर उन्होन जयकाव्य द्वारा भारतीय-सस्कृति की गौरव गाथा को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।

भारतीय-सस्कृति के कोष और हिन्दू जाति के प्राण अठारह पुराणो की रचना कर इन्होने सष्टि की रचना, विकास, प्रलय और राजवशा की वशावलियो की चर्चा कर जीवन के उदात्त-तत्त्वो की प्रस्तुति द्वारा हिन्दू जाति का ज्ञान विज्ञान और चितन मनन की उज्ज्वल परम्परा प्रदान की।

महर्षि व्यास ने गीता के समस्त ज्ञान को सात सौ श्लोको म आबद्ध

कर सूत्र रूप म ज्ञान कम और भक्ति की जिस त्रिवेणी की सजना की, 'यावत च द्रदिवाकरौ' वह विश्व मानव के दुखो को दूर करती रहगी।

५००० वष से भी अधिक समय हुआ है, जब इनका धरा पर अवतरण हुआ था। महर्षि व्यास महर्षि पराशर और धीवर-कन्या सत्यवती की स तान थे। इनका पूरा नाम था कृष्ण द्वैपायन व्यास। इनका रग सावला था तभी इ ह कृष्ण कहा गया। यमुना के एक द्वीप पर उत्प न होन से यह द्वैपायन कहलाए और भारतीय-सस्कृति और साहित्य के व्याख्याता होने के कारण इ हें व्यास कहा जान लगा। 'व्यास गद्दी' जहाँ धमव्याख्याता बैठ कर आज भी प्रवचन करता है, इन्ही के नाम को लकर ही प्रचलित हुई थी।

इसी काल मे यमुना के कछार मे एक दूसरे कृष्ण पैदा हुए थे, जि होन दुष्टा के विनाश और सज्जनो के परित्राण का सकल्प लेकर मरणास न मानवता को जीवन का अमर सदेश प्रदान किया था। महर्षि व्यास ने श्रीकृष्ण के कम के सिद्धा त को अपनी लेखनी का विषय बनाकर हिन्दू जीवन धारा के क्षीण होत हुए प्रवाह को गतिमान बनाया था। इनकी अमर रचनाओ म मानवता की मुक्ति का तथा ज्ञान और कम का सदश निहित है।

हजारो वर्षो से इनकी रचनाए तत्कालीन और परवर्ती लखकों, कवियों और साहित्यकारो के लिए उपजीव्य बनी रही हैं। मात्र इतना ही नहीं, अपितु आज भी इनकी कृतियाँ उतनी ही प्रासगिक और प्रेरक हैं, जितनी कि उनक समय मे और परवर्ती काल मे रही है। महर्षि व्यास जैसे अमर मनीषी की कृतियाँ सामयिक न होकर शाश्वत अर्थात् सदा सभी युगो और अवस्थाओ क लिए प्रासगिक बनी हुई हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि समय गुजरने के साथ-साथ इनकी कृतियो का महत्त्व और सदभ बढ़ता जा रहा है। इनकी कृतियो का महत्त्व बढ़ना स्वाभाविक है, क्योकि इनके पीछे उस क्रान्तदर्शी ऋषि क चिन्तन का मूल आधार कायरत है।

धृतराष्ट्र पाण्डु और मनीषी विदुर महर्षि व्यास की ही सन्तानें थे। इस दृष्टि से यह कौरव-पाडवो के पितामह लगते थे। इन्होंने अपनी

आखो से महाभारत पूर्व की ओर महाभारत काल की सम्पूर्ण घटनाओं को देखा था। महाभारत शुरू होने से पूर्व की वे समस्त घटनाएँ, जिन्होंने कौरवों और पाण्डवों को विनाश के कगार पर पहुँचाया था, इनके सामने ही घटी थीं। उस समय की विस्फोटक स्थिति के प्रति अपने उद्गारों को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था—

"मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ पर कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। मैं कहता हूँ कि धर्म ही से अर्थ और काम की भी प्राप्ति होती है। फिर भी तुम धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते?"

महर्षि व्यास के उस कथन का बड़ा महत्त्व है, जिसमें उन्होंने कहा था कि जो बात इस महाभारत में है वह ही भारत में घटित हुई है और इसमें नहीं है, वह यहाँ इस देश में नहीं घटी—"यद् भारते तद भारत, यन्न भारते तन्न भारत?"

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि महर्षि व्यास की अमर कृतियों में भारतीय-दर्शन चिंतन, मनन का मूलाधार विद्यमान है। जहाँ पुराण भारतीय संस्कृति के प्राण है, गीता में ज्ञान, कर्म और योग का समन्वित रूप देखने को मिलता है, वहाँ महाभारत में कौरव-पाण्डवों के मूल आख्यान के साथ सहस्रों अवान्तर कथाओं को अनुस्यूत किया गया है जिनमें भारतीय जीवन-दर्शन की प्रवाहमान अनवरत चिंतन धारा को अति सरल और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करने का सफल प्रयास किया गया है। महाभारत सदृश जातीय महाकाव्य में प्रतिपादित अनेकानेक आख्यान समकालीन और परवर्ती कवियों चिंतकों, विचारकों एवं विज्ञों की कृतियों में प्रतिपादित होकर जन-साधारण की ज्ञान पिपासा को शान्त करने एवं जीवन की उदात्त भावनाओं को जगाने में सफल सिद्ध हुए हैं।

अपनी कृतियों में महर्षि व्यास ने जीवन के यथार्थ का सम्यक प्रतिपादन करने के उपरान्त मानव को अतिमानव और महामानवता के पद पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वाल्मीकि के समान महर्षि व्यास भी गुणों का अधिष्ठान मानव को ही मानते है और उसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा अपनी कृतियों द्वारा प्रदान करते हैं।

महात्मा वुद्ध

यावत नोत्पद्यते बुद्धो धमराज प्रभाकर ।
तावत अये अपूज्यन्त पथुश्रमण ब्राह्मणा ॥

'जब तक धमराज प्रभाकर महात्मा बुद्ध का अवतार नही हुआ, तब तक ही श्रमणा और ब्राह्मणा की पूजा होती रही । बुद्ध के अवतरण के बाद इनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा ।"

पुण्यभूमि भारत इस दृष्टि से सौभाग्यशाली है कि यहाँ समय समय पर महापुरुषो ने जन्म लेकर ज्ञान और धम को युगानुकूल रूप देकर तत्कालीन समाज का मागदशन कर इस देश की सास्कृतिक धारा को प्रवहमान रखा है । पाच हजार वष पूव गीता म श्रीकृष्ण ने कहा था कि धम की ग्लानि हाने पर मैं धम के उद्धार के लिए एव अधम के विनाश के लिए समय-समय पर अवतार ग्रहण करता हूँ

यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत ।
अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सजाम्यहम ॥

आज से २५०० वष पूव महात्मा बुद्ध न इस भूमि पर जन्म लेकर तत्कालीन दिग्भ्रान्त समाज का पथ प्रदशन किया था ।

बुद्ध अवतरण से पूव तथा उनके समय म तथाकथित धमध्वजियो ने धम के रूप को विकृत कर रखा था । साधको के जीवन म साधना का स्थान आडम्बर न लिया था । भारतीय जीवन म आडम्बरो और कमकाण्ड का बोलवाला था । आमिष खाने की लालसा मे पडिता और पुजारियो न यज्ञा म पशुबलि का विधान खोज निकाला था । मनु द्वारा

प्रतिपादित धृति, क्षमा, शौचादि धर्म लक्षणों की मनमानी व्याख्याएँ प्रचलित हो रही थी। गेरुवे वस्त्र त्याग की अपेक्षा आडम्बर के प्रतीक बन चले थे। रोग, शोक, जरा, मृत्यु व भय से अभिभूत प्राणियों में मोक्ष की ओर किसी का ध्यान नहीं था। दर्शनशास्त्र केवल पारस्परिक विवाद का विषय ही बनकर रह गए थे। धर्म की इस ह्रासोन्मुखी अवस्था मे शाक्य वंश के क्षत्रिय परिवार मे एक तेजोपुंज इस सृष्टि पर अवतरित हुआ, जिसे लोगों ने राजकुमार सिद्धार्थ के नाम से सर्वप्रथम जाना।

'पानी विच मीन प्यासी-मोहि सुनि सुनि आवे हासी'

कबीर को आश्चर्य था कि मछली पानी मे रहती हुई भी प्यासी रहती है। ठीक यही अवस्था राजकुमार सिद्धार्थ की भी थी। पिता शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के रंजन के लिए संसार भर की सारी सुविधाएँ जुटा दी, पर सिद्धार्थ पर इन उपायों का कोई प्रभाव न पड़ा। वह राजपाट एवं वैभवपूर्ण वातावरण में रहते हुए भी उदास रहने लगा। जरा-मरणमय संसार में दुःख और शोक से परिपीड़ित मानव का उद्धार किस प्रकार हो, वह अहर्निश इसी चिन्तन में निमग्न रहने लगे। संसार में उसकी निर्लिप्तता को देख शुद्धोदन ने अनिंद्य सुन्दरी यशोधरा से उसका विवाह करा दिया, परन्तु सिद्धार्थ का मन तब भी अनेकानेक प्रश्नों से संकुल रहने लगा।

एक बार रात्रि के निविड अन्धकार में अपनी जीवन-संगिनी यशोधरा एवं शिशु राहुल के प्रेम पाश का मोह छोड़ सिद्धार्थ राजमहल से बाहर निकल पड़ा। सत्य और ज्ञान की खोज में निकले सिद्धार्थ ने अनेक जंगलों की खाक छानी कितने ही गुरुकुलों और मठाधीशों के द्वार खटखटाए। विविध मत मतान्तरों एवं सम्प्रदायों का परिशीलन किया परन्तु उसे कहीं भी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला। घर से वह निकल चुका था, यौवन के उद्दाम क्षणों की मस्ती भरी सन्ध्याओं को वह पतझड़ में बदल चुका था वनों, पर्वतों, गिरि-कन्दराओं में भटक कर भी उसे सच्ची शान्ति प्राप्त न हो सकी। इस स्थिति से निराश हो उसने संकल्प किया कि वह सत्य के दर्शन के लिए काया को तपस्या की आंच में कंचन बनाएगा। फलतः

गया के पास के एक निविड़ कानन में निरंजरा नदी के शांत तट पर पीपल के पेड़ की छाया में उसने समाधिस्थ हो, साधना आरम्भ की। वर्षों तक तपस्या की आंच में उसने अपनी काया को साधने का महान यत्न जारी रखा। इस तपस्या में उसके पांच शिष्य भी साथ थे। वर्षों तक तपस्या के परिणामस्वरूप सिद्धार्थ का शरीर कंकालवत जर्जर दिखाई देने लगा। अस्थियां उभर कर बाहर आ गई। पेट पीठ की दीवार से जा लगा। तेजोपुंजमयी मुख मुद्रा के अतिरिक्त लगता मानो हृदय में एक अत्यन्त ही मन्द स्पन्दन हो रहा है। इतना होने हुए भी सिद्धार्थ का प्रश्न अभी प्रश्न ही था। संसार में प्राणी क्यों दुखी है? क्या इनका दु:ख दूर नहीं किया जा सकता? प्राणी मृत्यु का ग्रास क्यों हो रहा है? इस इस स्थिति से कैसे उबारा जाए? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों से संकुलित मन में और भी अनेक दार्शनिक ऊहापोह चल रही थी कि अकस्मात् उसके कानों में उस वन प्रान्त से गुजरती हुई रमणियों के गीत की सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ी। गीत का सार था, 'इस विपंची को इतना भी न कसो कि यह टूट जाए और इतना ढीला भी न रखो कि यह बजे भी न।' इन शब्दों को सुनते ही सिद्धार्थ की समाधि खुल गई और वह समाधि से उठकर नदी में स्नान कर पुन: साधना-स्थल पर लौट आया। तपस्वी सिद्धार्थ के इस आकस्मिक परिवर्तन को उसके साथियों ने पसन्द न किया और वे क्रुद्ध होकर वहां से चले गए पर सिद्धार्थ पुन: निरंजरा के तीर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के नीचे बैठ चिन्तन करने लगा। उसका मन अब अति को छोड़ मध्यम मार्ग की ओर झुकने लगा। उसे लगा कि अत्यन्त क्लिष्ट साधना भी निरर्थक है और भोगों में पूरी तरह लिप्त होना भी उतना ही घातक है। अति को छोड़ मध्यम मार्ग का अवलम्बन ही इस नश्वर संसार में उबरने का एकमात्र माध्यम है।

वैशाख-पूर्णिमा की ऐतिहासिक रात्रि

वैशाख मास की पूर्णिमा की वह रात्रि एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, जिसने वर्षों में साधना में रत सिद्धार्थ को बुद्ध बना दिया। इस रात उस विल्व की नवोढ़ा श्रेष्ठि-कन्या सुजाता ने उस तपस्वी को खीर

खिलाई थी। खीर खाने के बाद पुन तपस्यालीन होते हुए तपस्वी ने सकल्प लिया कि आज अपने प्रश्न का उत्तर लिए बिना यह आसन म हीं न उठेगा। उसके तपस्या मे बैठते ही प्रकाश और अधकार की प्रवृत्तियो म तुमुल सघप होने लगा। कुप्रवत्तियो का पोषक काम अपने दलबल के साथ उस पर टूट पड़ा। उसके अन्त स्तल मे उत्ताल तरगे उठने लगी। उसका मन-आकाश विभिन्न शका-घटाओ से आच्छादित हो उठा। रह-रहकर उसका मन अनेकानेक दुश्चिताओ से घिरने लगा, पर तपस्वी सिद्धार्थ अपनी साधना से तिलमात्र नही डिगा। फलत परीक्षा की भयानक घडी समाप्त हुई और वह एकदम स्वस्थ हो गया। अनायास उसके अ तमन के बन्द कपाट खुल गए और उसे सवत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देने लगा। उसके मार्ग की अवरोधक शक्तियाँ स्वत ही अभिभूत हो गइ और तब निरजरा नदी के तट के बोधि वृक्ष के नीचे वर्षों से साधना मे रत सिद्धार्थ सबोधि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात 'गौतम बुद्ध' बन गए। अब उसने अपने प्रश्न का उत्तर पा लिया जिसमे मानव मात्र के कल्याण की सम्भावनाएँ निहित थी। सबोधि प्राप्ति के अवसर पर बुद्ध को जो चार सत्य ज्ञात हुए वे इस प्रकार है

(१) दुख का सत्य—अर्थात् इस जन्म मरणमय ससार के चक्र मे आबद्ध प्राणि मात्र की वस्तुस्थिति का ज्ञान।

(२) दुख सम्प्रदाय—दुखो के कारण का ज्ञान।

(३) दुख निरोध—दुखो से निवत्ति का विश्वास।

(४) दुख-नाश के उपाय—अष्टाग माग के सेवन द्वारा दुखो से छुटकारा।

इन चार सत्यो का मूल मत्र लेकर बुद्ध की तपस्या सार्थक हुई और वैशाख की ऐतिहासिक पूर्णिमा ने इस देश के दाशनिक चिन्तन की एक महान भूमिका का निर्वाह कर चिन्तन धारा का युगानुकूल काय करने का एक महान अवसर प्रदान किया।

धर्मचक्र-प्रवर्तन

वर्षों की साधना रग लाई, चिन्तन और मनन के फलस्वरूप उपलब्ध 'सत्य' का जन-जन मे प्रचार करने के लिए करुणा और दया की मूर्ति बुद्ध

घर घर मे अलख जगाने चल पडा। बुद्ध सर्वप्रथम सारनाथ गए, वहाँ उनकी भेंट उन पाँच शिष्यो से हुई, जो उरुवेला के कानन मे साथ रहते हुए वापिस लौट आए थे, वे बुद्ध का सत्कार न करने का निश्चय कर चुके थे, परन्तु तेज और तपस्या के पुंज महात्मा बुद्ध का दर्शन करते ही उनका सारा राग-द्वेष दूर हो गया और वे नतमस्तक हो उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। बुद्ध ने उन्हे बताया कि सन्यासी को अतिशय विलास और अतिशय तप, इन दोनो से बचकर मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। यह मध्यम मार्ग ही सबोधि, ज्ञान शान्ति और अन्तत निर्वाण का मार्ग है। सम्यक दृष्टि, सम्यक सकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक उद्योग, सम्यक स्मृति और सम्यक ध्यान या समाधि—ये आठ अष्टागिक मार्ग है। इनका परिपालन कर व्यक्ति कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार उन पाँच शिष्यो को दीक्षित कर बुद्ध ने धर्म चक्र का प्रवर्तन किया था।

प्राचीन भारतीय विचारधारा और महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध ने जिन सत्यो का प्रचार किया वे प्राचीन भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुकूल थे। उन्होने परम्परा से चले आ रहे जीवन दर्शन को तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल बनाने का सत् प्रयास किया। मनु ने धर्म के जिन दस लक्षणो का उल्लेख किया है, 'धम्मपद' की गाथाओ मे वे लक्षण यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' इस प्राचीन कथन को महात्मा बुद्ध ने व्यावहारिक रूप मे धर्म और चिंतन के क्षेत्र मे दिया। सस्कृत-साहित्य मे उपलब्ध जीवन सत्यो को बुद्ध के शिष्यो ने तात्कालीन जन भाषा पाली मे लिखकर सर्वजन सुलभ बना दिया। महात्मा बुद्ध का मार्ग कोई नया मार्ग न था, वह तो प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म का एक नवीन सस्करण था जिसने युग की आवश्यकता की पूर्ति की। बौद्ध धर्म की गीता धम्मपद की अनेक गाथाएं महाभारत, मनुस्मृति, गीता आदि ग्रन्थो मे वर्णित जीवनसत्यो से अक्षरश मिलती हैं। उदाहरणार्थ भगवान मनु ने कहा, 'अभिवादनशील व्यक्ति की आयु विद्या बल और यश निरंतर बढते रहते है' तो धम्मपद की एक

गाथा के अनुसार अभिवादनशील एवं वृद्धोपसेवी की आयु, वर्ण, सुख और बल निरन्तर वृद्धि करते रहते हैं।

महाभारत के अनुसार 'जो प्राणी अपने सुख के लिए अहिंसक प्राणियों को दण्ड देकर मार देता है, उसे मरकर भी शान्ति नहीं मिल सकती।' इसी श्लोक के समान धम्मपद की एक गाथा में कहा गया है कि जो सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से दण्ड से मारता है, वह मर कर भी सुख नहीं पा सकता।

इससे स्पष्ट है कि बुद्ध का मार्ग भारतीय चिंतनधारा का विरोधी न होकर उसका संपोषक ही रहा है। अन्तर केवल इतना है कि बुद्ध ने उसको बदले हुए सामाजिक परिवेश में ढाल कर देखा था।

भिक्षु-संघ का निर्माण

महात्मा बुद्ध संघ राज्य प्रणाली से भली भांति परिचित थे इसलिए जब उनके शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी और कार्य क्षेत्र का विस्तार हुआ, तो उन्होंने भिक्षु संघ की स्थापना कर उन्हें चारों दिशाओं में धर्म-प्रचार के लिए जाने का आदेश दिया। संघ स्थापना का यह लाभ हुआ कि संघ के कठोर नियमों के कारण मर्यादा बनाए रखने में बल मिला। यह महात्मा बुद्ध की तपस्या का ही परिणाम था कि उनके धर्म में राजा से लेकर रंक तक और हिंसक दस्यु से लेकर साधारण निरीह नागरिक तक ने दीक्षित होने में उत्सुकता दिखाई। महात्मा बुद्ध के अमित तेज और क्षमाशील चरित्र का ही प्रभाव था लोगों की उंगलियां काट कर माला बनाने वाला दस्यु अंगुलिमाल और ईर्ष्या, द्वेष की अग्नि में सदा जलने वाले देवदत्त भी उनके संघ में आ गए। पितृघाती अजातशत्रु भी बुद्ध के चरणों में नतमस्तक था और अपने समय की ख्यातनामा गणिका आम्रपाली भी उनके चरणों में नत थी। बुद्ध के लिए छोटा कोई न था। समदर्शी महात्मा बुद्ध के चरणों में सभी को शान्ति मिलती थी, धर्म-कार्य के प्रसार के साथ-साथ बौद्ध धर्म में स्त्रियों को भी दीक्षित किया गया।

महात्मा बुद्ध के पुत्र राहुल और पत्नी यशोधरा ने भी इस धर्म में

दीक्षा लेकर धर्म प्रचार के कार्य में लगा दिया। अन्तत अनेक राज्य परिवारो के व्यक्ति सामूहिक रूप मे दीक्षा लेकर इस धर्म ज्योति को चारो दिशाओ म फैलाने के लिए घरो से निकल पडे।

महानिर्वाण

लगभग ४५ वर्ष तक नगर-नगर, ग्राम ग्राम मे भ्रमण कर महात्मा ने ज्ञानामृत से जिज्ञासुओ को आप्लावित किया। इसी बीच चन्दकुमार पुत्त नामक एक उपासक ने उन्हे भोजन मे शूकर कन्द खिला दिया। इससे बुद्ध के उनके उदर में शूल उठने लगा। यह घटना वैशाली के समीप पावा की है। वहाँ से महात्मा बुद्ध गडक नदी पार कर मल्लो के शाल वन मे आए और उनके शिष्य ने वहीं पेड के नीचे उनका आसन लगा दिया। धर्म क्रिया जारी थी कि बुद्ध को लगा कि अब उनके जीवन का अन्त समीप है। शिष्य मण्डली को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि 'ससार म जिसका निर्माण हुआ है उसका विनाश भी निश्चित है। तुम अपने लक्ष्य के विषय मे प्रमाद न करना।'

इस प्रकार अपना अन्तिम सदेश देकर सत्य का अन्वेषक और साधना म मध्यम मार्ग का प्रवर्तक महात्मा बुद्ध महानिर्वाण के अथाह सागर म विलीन हो गया। आज महात्मा बुद्ध हमारे बीच नहीं हैं पर उनकी अमर वाणी और उनके चरण चिह्न आज भी विनाश की विभीषिका से सत्रस्त मानवता का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। २५०० वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने ज्ञान की जो ज्योति प्रज्वलित की थी वह आज भी अज्ञान के अन्धकार म भटकती मानवता का पथ प्रदर्शन करने की उतनी क्षमता बनाए हुए है, जितनी कि महात्मा बुद्ध के जीवन काल म वह रखती थी।

वर्धमान महावीर

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

"मुझे राज्य, स्वर्ग और मोक्ष नहीं चाहिए। मैं चाहता हूँ कि दुखित प्राणियों के कष्टों को समाप्त कर मैं उन्हें सुख प्रदान कर सकूँ।"

भारतीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषता है सहिष्णुता। इस विशेषता के कारण ही वेदोपनिषदों के अध्यात्मवाद से लेकर चार्वाक मत के प्रकृतिवाद तक सभी प्रकार की विचारधाराओं को इस धरती पर पुष्पित और पल्लवित होने का अवसर मिला। चिंतन और साधना के क्षेत्र में,विचार स्वातन्त्र्य का जो उन्मुक्त वातावरण प्राचीनकाल से ही यहां चला आया है, वैसा वातावरण विश्व के किसी देश में उपलब्ध नहीं हो सका। प्राचीन ग्रीस ही ऐसा देश था जो इसका अपवाद था। अन्यथा विचारों की स्वतन्त्रता भारत के अतिरिक्त कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। विचार और मत-स्वतन्त्रता के फलस्वरूप भारतवर्ष में ऋग्वेदकालीन यज्ञ-अनुष्ठानों के आरम्भिक दौर के बाद यहां की उपनिषदों की महती अध्यात्मवादी चिंतनधारा ने चिंतकों और मनीषियों की बौद्धिक क्षमताओं को विविध आयाम प्रदान किये। तत्पश्चात चराचर विश्व के सम्बन्ध में विविध स्थापनाओं के प्रस्तोता छह दर्शनों का अभ्युदय हुआ। इसी क्रम में जहां आत्मा, परमात्मा और अचेतन से संबद्ध वैदिक आध्यात्मिक परम्पराएं विकसित हुईं, वहीं वैदिक मत से मतभेद रखने वाले मत-मतान्तरों का भी अभ्युदय और विकास हुआ। ये मत दो प्रकार के थे।

इनमे एक तो वे थे जो ब्रह्म, आत्मा, मुक्ति परलोक, पुनर्जन्म के विरोधी थे। इनके अनुसार जड प्रकृति ही सत्य ह, ऐन्द्रिय सुख ही चरम सुख है। लोकतन्त्र या चार्वाक इसी मत के पोषक और प्रचारक थे। दूसरे मत वे थे, जो वैदिक यज्ञ म प्रचलित हिंसा के विरुद्ध थे। य अनीश्वरवादी थे। अहिंसा, नैतिकता की भित्ति पर आधारित ये मत थे बौद्ध और जैन मत। वैदिको ने इन दोनो प्रकार क मतो को नास्तिक कहा है। चार्वाक मत तो ऐहिक सुख को चरम सत्य मानता था। उसके अनुसार व्यक्ति जब तक जीवे सुख स जीवे। अपन सुख के लिए वह ऋण लेकर भी घृत-पान करे। इस शरीर के नष्ट होन के बाद ऋण चुकाने कौन लौटेगा ?

> यावत जीवेत् सुख जीवेत ऋण कृत्वा घृत पिवेत ॥
> भस्मी भूतस्य देहस्य / पुनरागमन कुत ॥

आज यह स्थिति है कि चार्वाको के सिद्धान्त प्राप्त नही हैं। जहाँ कही इनक मत का खण्डन प्राप्त है, वही उदाहरण के रूप म इनसे सम्बद्ध थोडी बहुत सामग्री मिल जाती है। इसी प्रकार बौद्ध मत का साहित्य भी भारत की अपेक्षा पडोसी देशो म अधिक उपलब्ध है। यह मत तो एक ऐसे बड वे पड के समान है, जिसका मूल तना तो भारत म है, पर इस की जटाएँ, शाखाएँ, प्रशाखाए पडोसी देशो मे अधिक पुष्पित और पल्लवित हो सकी ह। जहाँ तक जैन धर्म का सम्बन्ध है, इसका सम्पूर्ण वाङ्मय, इसकी तीर्थंकरपरम्परा एव श्रमण-सस्कृति मे पूर्ण रूपण प्राप्य है और आज भी देश क एक छोर से दूसर छोर तक जैन मुनियो और उनकी शिष्य-मडली ससम्मान अपने सिद्धान्तो और नियमो का प्रचार करती दृष्टिगोचर होती है। स क्षेप म यह कहा जा सकता है कि बौद्धों की अपेक्षा आज जैनियो का प्रचार और प्रसार काय किसी सीमा तक अधिक दिखाई देता है। बौद्धो की अपेक्षा जैन मत का प्रभाव क्षेत्र व्यापक है।

जैन मत के प्रवर्तक ऋषभ दव हैं। इन्हें आदिनाथ के नाम स भी स्मरण किया जाता है। इनका समय है ईसा स पूर्व आठवी शती। इनका

जन्म राजपरिवार मे हुआ था। ३० वष की आयु म ही राजपाट छोडकर तपस्या द्वारा इन्होंने 'कवल्य' प्राप्त किया था। मुमुक्षुओ के लिए इन्होन अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रतो के परिपालन का उपदेश दिया था। जन ग्रन्थो म इन व्रतो या नियमो की विस्तत चचा उपलब्ध है। ऋषभ स लेकर वधमान महावीर तक २४ विभूतियो का वणन आता है, जिन्हे तीर्थंकर भी कहा जाता है। इन्ही तीथकरो क समय म ही जैन धम के सिद्धान्तो को पुष्ट आधार प्रदान किया गया।

इन तीर्थंकरो म पाश्वनाथ विशेष उल्लेख्य ह। सौ वष की आयु पूरी कर इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। इनका समाधि-स्थल पाश्वनाथ शिखर के नाम से जाना जाता है।

पाश्वनाथ के २०० वर्ष बाद वधमान महावीर इस देश म अवतरित हुए। मगध के वृजिगण-राज्य के ज्ञात्रिक कुल मे इनका जन्म हुआ था। इनकी एक बेटी भी थी। तीस वष की युवावस्था म ही इन्होने गृह-त्याग कर साधना के कठोर पथ का अनुसरण किया। इन्होन १२ वष तक निरतर तपस्या की। तप की अवस्था मे यह निवस्त्र रहत थे। प्राकृतिक विपदाओ की चिन्ता किए बिना निरन्तर १२ वष की तपस्या के बाद तेरहवें बष एक नदी के तट पर शाल के वक्ष के नीचे इन्होन 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त किया। उस दिन से इन्हे अहत या जिन कहा जान लगा। कैवल्य प्राप्ति के बाद गावो, कस्बो और बस्तियो मे भ्रमण कर इन्होने जैन धम का प्रचार आरम्भ कर दिया।

उस समय इनके सामने प्रकृति और मानव कृत अनकानेक बाधाएँ आइ। अपने समय और तप तथा सहिष्णुता के बल पर इन्होने उन सभी बाधाओ पर विजय प्राप्त की। विरोधियो के षडयन्त्रो को परास्त करते हुए यह अपन साधना पथ पर निरन्तर बढन रह। फलत सफलता न इनके चरण चूमे और सवत्र जन सिद्धान्तो और साधना पद्धति की सराहना की जाने लगी। सम्यक दशन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य क सोपानो पर निरन्तर आगे बढते हुए इन्ह निरन्तर सफलता ही मिली। इनके विरोधियो मे गोशाल का नाम प्रसिद्ध है। यह इनका नालन्दा विश्वविद्यालय का साथी था। ये दोनो एक साथ अध्ययन, मनन

और चिंतन करते रहे। पर आगे चलकर गोशाल का इनसे मतभेद हो गया। फलतः इनसे मतभेद के कारण गोशाल इनका घोर विरोधी बन गया। इनके और भी कई विरोधी थे, परंतु वर्धमान महावीर के दृढ़ निश्चय और दृढ़-संकल्प के सामने वे बहुत समय तक टिक न सके। इन्होंने पार्श्वनाथ के चार व्रतों—अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह सत्य के साथ-साथ ब्रह्मचर्य को भी सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार निरन्तर साधना-पथ पर बढ़ते हुए बहत्तर वर्ष की आयु में इन्होंने शरीर त्याग दिया। इनकी शिष्य मंडली तो विशाल थी ही। लिच्छवी गण के शासक और बिंबसार तथा अजातशत्रु भी इनके अनुयायियों में गिने जाते थे। इन राजवंशों के वैवाहिक सम्बन्ध जिन राज-परिवारों में हुए, वे भी जैन-धर्म से जुड़ते चले गये। इस दृष्टि से इनके प्रभाव क्षेत्र में निरन्तर विस्तार होता गया। लिच्छवियों का राज धर्म तो जैन था ही; आगे चलकर कौशाम्बी, अवन्ती, सौवीर, सिंधु आदि राज्य भी इनके प्रभाव क्षेत्र में आ गए।

वर्धमान महावीर के निर्वाण के बाद इनके शिष्य सुधर्मा संघ प्रमुख चुने गये। इन्होंने जम्बुस्वामी एवं अन्य आचार्यों को जैन धर्म का प्रचार और प्रसार का दायित्व दिया, जिन्होंने बड़ी सफलता के साथ अपने दायित्व का निर्वाह किया।

इनके शिष्यों में प्रमुख भद्रबाहु तो मगध में १२ वर्ष तक निरंतर अकाल पड़ने से परेशान होकर शिष्यों को दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश के अंतर्गत श्रमण बेलगोला में चला गया। उसके प्रयत्नों से वहां जैन धर्म का प्रचार हो सका।

इसी बीच उनके दूसरे शिष्य ने जैन विद्वानों की एक महती सभा बुलाकर उसमें महावीर पूर्व के तीर्थंकरों के जैन सिद्धान्तों का विधिवत संकलन और उनकी व्याख्याएँ संकलित कराईं। कुछ वर्ष बाद दक्षिण से लौटकर भद्रबाहु ने मगध में जब जैन सिद्धान्तों के संकलन का अवलोकन किया तो उसने उनसे असहमति व्यक्त की। फलतः जैन मत दो भागों में विभक्त हो गया—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इसी बीच भद्रबाहु ने नेपाल में जाकर जैन-धर्म का प्रचार और प्रसार कर पर्याप्त ख्याति अर्जित की।

इतने प्रयत्नो के बाद भी अनुभव किया गया कि जन मत अभी पूरे तौर पर प्रामाणिक नही ह। १४५४ ईस्वी म सौराष्ट्र के वलभी नामक स्थान पर जनाचाय देवर्धीमाणि न जनागमो को प्रामाणिक रूप देन के लिए जन धम के विद्वानो एव श्रमणो की एक विशाल सभा बुलाई, जिसम जैनधम की सभी शाखाओ और विभिन्न आचार्यों द्वारा अब तक प्रणीत सभी कृतियो एव रचनाओ को अतिम रूप प्रदान किया गया। इन धम-ग्रन्थो की कुल सख्या ८४ तय की गई। इन रचनाओ की भाषा अधमागधी (अपभ्रश) है और इनमे से समवायाग, भगवती सूत्र, उवासगदसाओ अति महत्त्वपूर्ण है।

सक्षेप म यह कहना होगा कि जैन धम मूलत अनीश्वरवादी है। इसकी अपनी एक स्वतन्त्र दशन की विचारधारा है, जिसे आचार्यों ने स्यादवाद का नाम दिया है। इस धम के अनुसार आत्मा या जीव का पथक अस्तित्व ह और वह अलौकिक गुणो से सम्पन्न है।

स्वभाव मे विशुद्ध जीव कम के प्रभाव स अछूना नही रह सकता, इसलिए इसकी शुद्धता छिप जाती है। अविद्या जनित क्रोध, मान, माया, लोभ इसके साथ सलग्न रहते है, जिन्हे अहिसा, सत्य अस्तय आदि व्रतो की साधना से दूर कर कैवल्य प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार की साधना जब चरित्र सीमा पर पहुँचती है, तो साधक तीर्थंकर की अवस्था या स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

अन्त म यह कहा जा सकता है कि जैन धम के प्रकाश-स्तम्भ वधमान महावीर की ससार की सबसे बडी देन है—दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति, जिसका दिग्दशन जनतर दशन-ग्रन्थो मे भी उपलब्ध है। इस दाशनिक उपलब्धि के अतिरिक्त उनकी दूसरी देन है—अहिसा। महात्मा गाधी की अहिसा म महावीर और बुद्ध का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। यही अहिसा अतत विश्वशान्ति का मूल-मत्र है जिसे स्वीकार करके ही विश्व को विनाश से बचाया जा सकता है। इसी विश्व शान्ति म हो वैदिक प्रायना शान्ति-पाठ और सर्वेभवन्तु सुखिन ' का मूल मत्र निहित है, जिनकी कामना हिन्दू जीवन दशन म ही सभव है, अन्यत्र नही।

आदि शकराचार्य

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन पृथिव्यासवमानवा ।।

"इस भारत देश मे जन्मे विद्वानो से ससार भर के प्राणी अपने-अपने चरित्र को सीखें। अर्थात् भारतीय विद्वान विश्व मे जाकर आर्य मर्यादाओ का प्रचार करते हुए उन देशो के लोगो को चारित्रिक मर्यादाओ का ज्ञान कराए।'

आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व इस हिन्दू भूमि मे एक तरुण सन्यासी ने यातायात के साधनो के अभाव म भी देश के एक छोर स दूसर छोर तक पदल घूमकर अनीश्वरवादी तथा आडम्बरपूर्ण उपासना पद्धतियो के पक्षधरो को अपने तर्क-बल से पराजित कर वैदिक धर्म-सम्मत वेदान्त के सिद्धान्तो की पताका फहराने के उपरान्त भविष्य म भी वदिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए देश के चारो सीमान्तो पर चार मठो दक्षिण म शृगेरी मठ, पुरी मे गोवधन पीठ, बदरिकाश्रम म ज्योतिमठ और द्वारिका म शारदापीठ की स्थापना द्वारा राष्ट्र की सास्कृतिक और राष्ट्रीय नींव का सुदृढ आधार प्रदान किया था।

राष्ट्रीय और सास्कृतिक धरातल को सुदृढ आधार देने वाली इस महती विभूति का जन्म ई० ७८८ म केरल प्रदेश के मालाबार क्षेत्र के कालटी ग्राम म नम्बूदी ब्राह्मण परिवार म हुआ था। बाल्यकाल म ही इनके पिता चल बसे। विद्याध्ययन के उपरान्त इनके विवाह की चर्चा चल पड़ी। उस समय विवाह छोटी उम्र म ही हुआ करते थे। शकर चाहते थे

कि विवाह के बधन म न बँधकर धम के क्षेत्र म आग बढकर काय किया जाए। विधवा माँ को बहू लान की जल्दी थी। इसी बीच एक घटना घटी, जिसने शकर के जीवन का एक नया मोड दे दिया।

एक बार माँ-बेटा एक नदी मे स्नान करन गए। माँ ने तो नदी के तट पर ही स्नान कर लिया, पर शकर नदी के गहरे पानी म चले गए। इसी बीच शकर के पाँव को मगरमच्छ ने पकड लिया और वह चिल्लाया कि उस मगरमच्छ ने पकड लिया है। माँ इसस अत्यधिक दुखी हुई और लगी देवी-देवताओ मनान। माँ की कातरता को देख शकर ने कहा कि माँ यदि तू मुझे सन्यासी बनन की अनुमति दे दे तो यह मगरमच्छ मुझे छोड सकता है, अयथा जीवनलीला तो समाप्त ही समझा। विवश हो माँ ने शकर की बात मान ली। तत्पश्चात मगर से छुटकारा पाकर शकर नदी से बाहर आए। कहा जाता है कि शकर ने यह कहानी माँ के सहज और सरल स्वभाव के फलस्वरूप ही गढी थी, क्योंकि उनकी विधवा माँ नही चाहती थी कि वह सयासी बन। अब पुत्र के प्राण सकट म समझकर उसने उसे सन्यासी बनने की अनुमति दी थी।

माँ की आज्ञा लेकर शकर मात्र १६ वष की आयु मे ही घर छोडकर नमदा नदी के तट पर गोविदाचाय जी के आश्रम म गए और वहा वेदात के अद्वैत सिद्धात और योगादि की शिक्षा प्राप्त कर दीक्षा ली। सयास ग्रहण करके वे कालातर म ब्राह्मणा के गढ काशी म गए जहाँ उहान ब्रह्म सूत्र श्रीमद भगवद गीता एव उपनिषदा के भाष्य लिखे। वही रहत हुए अयान्य मता के सिद्धान्तो का अध्ययन करने के उपरात उन मतो का खडन कर वदिक धम की पुन प्रतिष्ठा का सकल्प लिया। शकर न अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के बल पर विभिन देवी-देवताओ की उपासना के नाम पर वितण्डावाद करने वाले आडम्बरधारियो को भी चुनौती दी और अपने तक-बल पर उह पराजित कर एक ही मदिर मे पचायतन उपासना के प्रचलन पर बल दिया। इस पद्धति स उहान प्रतिपादित किया कि सभी उपासनाओ का लक्ष्य उस एक परब्रह्म की उपासना ही है। देवो की अनकता मे एकता की स्थापना करत हुए उन्हाने सिद्ध किया कि ईश्वर एक ह, उस तक पहुँचन के माग अनेक है—

एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति ।

वदात मत क प्रवल समथक होने हुए भी युवा शकर न विष्णु, दुर्गा, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओ की स्तुति व स्तोत्र लिखे। यह काय कर इन्होने प्रतिपादित किया कि एक ही ब्रह्म सव देवताओ मे समाया हुआ है—

एको देव सवभूतेषु गूढ ।

अपने वदात के सिद्धान्तो के प्रचार और वज्रयान, हीनयान महा यानादि के तान्त्रिक विधि विधानो के खण्डन क लिए तथा अनीश्वरवादी मतवादो मे लोहा लेने क लिए शकर न धम के क्षेत्र म दिग्विजय का अभियान किया। इस अभियान के अतगत उन्होने वैदिक और पौराणिक धम के अतगत पाशुपत, भरव, कापालिक सम्प्रदायो की भूल भुलैयो म फँसे जन साधारण को भी मुक्त कराने का सकल्प किया।

शकर ने देश भर मे भ्रमण कर उपयुक्त मतवादो के धमध्वजियो को यत्र-तत्र चुनौती दी और अपने तक-बल स उन्ह परास्त किया और धम के क्षेत्र म फैल अज्ञानान्धकार को छिन्न भिन्न करने मे सफलता प्राप्त की तथा पूवकालिक वैदिक ज्ञान की विमल धारा की पुन प्रतिष्ठा कर देश भर म पयाप्त ख्याति अर्जित की। देश भर मे अनीश्वर वादियो क गढो को परास्त करने के उपरात उन्होने अनीश्वरवादी चार्वाको को भी शास्त्राथ की चुनौती दी। चावाको का कथन था—

यावत जीवेत सुख जीवेत ऋण कत्वा घ त पिवेत ।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥
(जब तक जीवे सुख से जीवे कर्जा लेकर घी को पीयें)।

युवा शकर की विद्वता क समक्ष चार्वाक भी न ठहर सके। इस प्रकार अपनी विजय का शखनाद करते हुए शकर पूव मीमासा कम-काण्ड क समयक कुमारिल भट्ट स शास्त्राथ करन क लिए उसके यहा गए, पर उनका मनोरथ पूरा न हो सका क्योकि कुमारिल उस समय लकडियो की चिता म बठने को प्रस्तुत हो रह थे। शकर न उन्ह चिता स बाहर आने का अनुरोध किया, पर कुमारिल उनकी बात मानने के लिए तयार

न हुआ। शकर को उसने चिता मे जलने का कारण बताते हुए कहा कि एक तो वह बौद्धों के निगूढ रहस्यो को जानने के लिए प्रच्छन्न बौद्ध बनकर रहा है और दूसरे उसने अप्रत्यक्ष रूप से वेद की शाश्वतता पर सन्देह किया है। इस पाप का परिमाजन करने के लिए ही वह चिता म भस्म होन जा रहा है। जात जात उसने शकर से कहा कि वह उनके पट्टशिष्य मडन मिश्र से अवश्य शास्त्राथ करें। कुमारिल भट्ट स निर्देश पाकर युवा शकर गोदावरी तट पर माहिष्मती (महेश्वर) नगरी म गया और मण्डन मिश्र के पास जा पहुचा। उन दिनो मण्डन मिश्र की विद्वत्ता की ख्याति चहुँ ओर फैली हुई थी। उसके घर म पिंजडो मे आबद्ध शुक शुकी भी सस्कृत बोला करत थ। वह स्वय अपने समय का प्रकाण्ड विद्वान था। शकर न उसे शास्त्राथ करने की चुनौती दी। मण्डन मिश्र न उसे देखकर कहा कि इतनी बडी कथा (गुदडी, कफनी) पहन रखी है, पर सिर पर शिखा (चोटी) नही और गल म यज्ञोपवीत नही। यह क्या बात हुई ?

> कथा वहसि रे मूढ गर्दभादपि दुवहाम।
> शिखा यज्ञोपवीताभ्या कि ते भार भविष्यति॥

शकर का उत्तर था कि शिखा रखने और यज्ञोपवीत धारण करन से सन्यासी पर श्रुति (कम काण्ड) का भार हो जाता है। वह सन्यासी होकर कमकाण्ड से ऊपर उठ चुका है। इसलिए वह शिखा-यज्ञोपवीत धारण नही करता।

इस नोक झोक के बाद उनम शास्त्राथ—आरम्भ हुआ। इसम निर्णायक बनी मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी उभयभारती। शास्त्राथ कई दिना तक चला। अन्तत मण्डन मिश्र शकर स शास्त्राथ म पराजित हुआ।

मडन मिश्र की अर्धांगिनी के नाते उभयभारती न शकर से कहा कि जब तक वह उसे पराजित नही कर लेता, तब तक मण्डन मिश्र पूणत पराजित नही माना जा सकता। शकर न उसके तक को स्वीकार कर शास्त्राथ पुन शुरु किया। उभय भारती न कामशास्त्र विषयक प्रश्नो के उत्तर देने म शकर असमथ था। भला एक ब्रह्मचारी कामशास्त्र विषयक

प्रश्नो के उत्तर कैसे दे पाता ? अतत शकर ने इन प्रश्नो के लिए समय लेकर वहाँ से विदाइ ली और माग म एक मृतक राजा के शरीर म प्रवश किया। व समाधि द्वारा परकाया प्रवश म सिद्धहस्त थे।

राजा के शरीर म प्रवश कर काम सम्बन्धी अनुभवा को प्राप्त कर पुन उसने अपने समाधिस्थ शरीर म प्रवश कर मण्डन मिश्र के घर मे आ उभयभारती क प्रश्ना के उत्तर देकर शास्त्राथ मे विजय प्राप्त की। शास्त्राथ मे पराजित मण्डन मिश्र न शकर क शिष्यत्व को ग्रहण किया और उसने सुरेश्वराचाय क नाम स ख्याति प्राप्त की। मण्डन मिश्र की पत्नी विदुषी उभयभारती की विद्वत्ता और प्रतिभा से प्रभावित शकर न दक्षिण के मठ म उसकी प्रतिमा अपन हाथा से स्थापित की, जो अब तक भी वहाँ विद्यमान है।

मण्डन मिश्र को पराजित करने के उपरान्त हिन्दू धम की पताका को उसन नालदा राजगृह, तक्षशिला, काश्मीर आदि स्थानो पर भी फहराने म सफलता प्राप्त की। इन स्थानो म विभिन्न मतवादा के पण्डितो को अपनी तक शक्ति स पराजित कर अनेकानेक प्राचीन मन्दिरों का उद्धार करत हुए उन्होंन वहाँ वर्षा स बन्द किए गए मन्दिरो के कपाट खुलवाए और मन्दिरा म पुन वैदिक उपासना-पद्धति को प्रचलित कराया। फलत इन क्षेत्रा म महायान, हीनयान वज्रयान आदि के विद्वाना न भी शकर की धाक का स्वीकार किया। हिमालय की गाद म स्थित बदरीविशाल मन्दिर की पुन प्रतिष्ठा कर कदारनाथ म शिवालय की स्थापना कर उत्तराखण्ड म वैदिक धम की कीर्तिपताका फहरान म सफलता प्राप्त की। भारत भूमि म चार मठा की स्थापना कर वहाँ रहन वाले विद्वानो को उन क्षेत्रो म वैदिक हिन्दू धम क प्रचार का दायित्व सौपकर शकर को एक अपूव सन्तोष मिला। कालान्तर म उसकी कीर्ति पताका सागर पार के द्वीपो तक भी जा पहुची। प्रमाणस्वरूप कम्बोडिया क शासक राजा इन्द्र वमन न नौवी शती म यहाँ घोषित किया था कि उस आचाय शकर न वदिक धम की दीक्षा दी थी।

आचाय शकर द्वारा प्रतिपादित वदान्त दशन ब्रह्म का सत और ससार को मिथ्या मान कर चलता है।

शकर न मा की अन्तिम क्रिया करन का निश्चय किया, जिसे वहाँ उपस्थित पण्डितो और तथाकथित विद्वानो न पसन्द न किया। उनके अनुसार सन्यासी किसी की अन्तिम क्रिया नही किया करता। शकर यह जानते थ, पर उन्होन मा को जो वचन दिया था, उसे वह सन्यासी के कर्तव्य से भी ऊचा समझते थे। इसलिए उन्होन जब अपने निश्चय की घोषणा की तो गाँव के तथाकथित धर्म ध्वजियो न उनका बहिष्कार करत हुए किसी भी प्रकार की सहायता देने से मना कर दिया। धर्म की आड मे अधर्म के ठेकेदारो की चिन्ता न कर शकर न अकेले मा का शव अपनी पीठ पर उठाया और घर के पीछे के आगन म उसकी चिता बनाई। आस पास पडी लकडिया एकत्रित कर उसने चिता को आग दी। पत्थर दिल ग्राम वासियो के बर्ताव की चिन्ता न कर सन्यासी माँ का अन्तिम सस्कार कर आश्रम म लौट आया।

धर्म के क्षेत्र म अपेक्षित कार्य करने के उपरान्त माँ के प्रति अपने वचन को निभाने के बाद शकर को लगा कि अब उनके कर्तव्य की पूर्ति होने वाली है। ईश्वर ने उसे जिस कार्य के लिए भेजा था, वह सम्पन्न हो चुका है। यह मानकर वह हिमालय की पुण्यस्थली म जा पहुँचे और वहाँ एक सुन्दर गुफा म जाकर अन्तिम समाधि ली, जहाँ से वह बाहर कभी नही आए।

एक अन्य दन्तकथा के अनुसार शकर के विरोधियो न उन्हे किसी खाद्य पदार्थ म विष दे दिया था, जिससे वह निरन्तर अस्वस्थ रहने लगे। अन्तत एक दिन उन्होन चिर समाधि लेकर ३२ वर्ष की युवावस्था म ही इस ससार स प्रयाण करने के निश्चय को कार्यान्वित कर दिया।

निसन्देह शकर बहुत छोटी आयु म हिन्दू धर्म की कीर्ति-पताका फहराने के उपरान्त इस ससार स चले गये पर इतने अल्पकाल म उन्होने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसको कोई अन्य विभूति सौ साल म भी पूरा नही कर पाता थी।

गोस्वामी तुलसीदास

रामो राजमणि सदाविजयते रामरमेश भजे ।
रामेणाभिहता निशाचर चमू रामाय तस्मै नम ।।
रामान्नास्तिपरायण परतर रामस्य दासोऽस्म्यहम ।
रामे चित्तलय सदा भवतु मे भो राम ! माम पालय ।।

"श्री राम राजाओ म परम श्रेष्ठ ह, मैं श्री राम की उपासना करता हूँ । राक्षसो की सेना का विनाश करने वाले श्री राम को मैं नमस्कार करता हूँ । श्री राम स बढकर जगत् म कोई नही, मैं श्री राम का दास हूँ । श्री राम मे मेरा मन सदा रमा रह । ह श्री राम ! आप मेरा परिपालन कीजिए ।"

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम क अनन्यभक्त एव स्वात सुखाय रघुनाथ-गाथा लिखने वाले गोस्वामी तुलसी न रामचरितमानस सदश काव्यकृति की सष्टि करके भी अपनी विनम्रता का परिचय देत हुए कहा कि 'कवि न होऊ नहि चतुर कहाऊ।' इस निरभिमानी कवि की कविता सारे भारत म और विशेषत उत्तर म भारत जो ख्याति अर्जित की, उसी का ही प्रतिफल है कि आज रामचरितमानस कृषक के झोपडे से लकर राज्य दरबार तक एक समान आदर क साथ गाया और पढा जाता है । उसकी चौपाइया जहा भारत के गावो की चौपालो म सुनन को मिलती है वहीं इस ग्रन्थ की चर्चा विद्वानो का प्रिय विषय भी है । जहा अपढ और निपट गँव र लोग इस उद्ध त करत है वही विश्वविद्यालयो और विद्वद् मडली म भी इस पर चर्चा और शोध भी हो रह हैं । भारतीय सस्कृति जो हिन्दू

सस्कृति का ही अपर नाम है, वे अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास लोक जीवन के व्यवहारिक पक्ष के उदघाटक कविवर रहीम-खान खाना और व्रज भारती के अमर गायक कविवर सूर के समकालीन थे। जहा सूर ने व्रज की अमराइयो म यमुना के कछार पर भगवान कृष्ण की लीलाओ का गान कर स्वय को धन्यमाना, वहा कविकुल चूडामणि गोस्वामी जी ने विष्णु के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के सम्पूर्ण चरित को लेकर मानस की सृष्टि कर स्वय को कृतकृत्य बनाया एव समकालीन और परवर्ती लेखको और कवियो का माग प्रशस्त किया।

मध्य काल मे आक्रमणकारियो से अनेक वर्षों तक युद्ध करने के उपरात भी पराजित होने के कारण हताश निराश, एव अभिशप्त बने हिन्दू समाज की दुरवस्था को देख कर गोस्वामी जी ने उनके समक्ष आदि कवि वाल्मीक के द्वारा रचित रामायण के महामानव आदश राजा, आदश भाई, आदश पुत्र, आदश मित्र श्री राम का चरितगान तत्कालीन लोक भाषा अवधी म किया। सस्कृत तो तब विद्वानो के बीच ही समादृत और सीमित होकर रह गई थी, अत राम चरित को लोक भाषा म जनसाधारण के बीच लाना एक युग की आवश्यकता थी, जिसका निर्वाह गोस्वामी जी ने किया। गोस्वामी जी मात्र कवि न थे, वे एक उच्च कोटि के विद्वान एव चितक भी थे। वह जानते थे कि उन दिनो विजय के उन्माद मे मदमस्त विदेशी शासक भारतीय सस्कृति के प्रतीको और चिह्नो को मिटा कर ध्वस्त कर एव अपमानित कर पराजित हिंदू समाज को अपमानित करने म ही स्वय को गौरवान्वित समझने लगे थे। विजय के उन्माद ने उन्हे इतना उन्मत कर दिया था कि कालान्तर म उन विजेताओ ने राज्य की छीना झपटी म अपने पिता का वध करना क" म भी उन्हे अपमानित और प्रताडित करना, भाइयो को मार कर स्वय गद्दी पर बैठना एव गवको और दासो का अपने नामको या स्वामियो को मार कर स्वय नामनामद हो जाना आदि-आदि बातें दैनिक जीवन का अग बन कर रह गयी थी।

इस प्रकार की असमान, अनैतिक एव परम्परा और सदाचार के विरुद्ध बातें जहा समाज के जीवन का मुख्य अग बन गयी थी वहा दूसरी

और पराजित मनोवृत्ति से अभिभूत हिन्दू समाज में नव-जीवन का संचार कर उसके समक्ष भारतीय-संस्कृति के आदर्शों को नये रूप में उजागर करना बड़ा ही आवश्यक कार्य था। इससे तत्कालीन विदेशी शासकों को भी बताना था कि जहा पिता को बंद कर भाई को मार कर या सेवक द्वारा स्वामी की हत्या कर राज्य करना वे बुरा नहीं मानते, वहा इस देश की क्या परम्पराएँ थी? इस समाज के कितने ऊँचे आदर्श थे! वे इन्हें भी पढ़ कर देख लें। कहा तो राज्य के लिए पिता को कैद कर उस काल कोठरी में पानी पीने का प्याला तक न देना और कहाँ पिता के द्वारा दिए गए वचनों को सुनते ही राज्य छोड़ कर १४ वर्ष तक वनों में रहना, कहाँ तो बड़े भाई को मार कर उसके शव का लाशों में प्रदर्शन कर स्वयं सिंहासनासीन होना और कहा १४ वर्ष तक भाई के पादुकाओं-(खड़ाऊ) के समक्ष सिर नवाकर नन्दी ग्राम में भाई के लौटने तक तपस्वी जीवन व्यतीत करना। कहाँ तो दासों का शासकों को मार कर गद्दी पर बैठना और कहा हनुमान, सुग्रीव आदि द्वारा आजीवन सेवक और मित्र बनकर ही स्वामी के जीवन में कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहना आदि आदि। इस प्रकार की अनेकानेक विसंगतियों और विभिन्नताओं को समझाने के लिए गोस्वामी जी ने अपने आराध्य भगवान राम के आदर्शमय चरित्र की विशेषताओं को तत्कालिक समाज के समक्ष प्रस्तुत किया।

उस युग के शासकों के लिए उनके समाज में नारी मात्र भोग की वस्तु थी। इसके विपरीत गोस्वामी जी ने मां सीता का जो तप पूत उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत किया और राम ने यज्ञ के समय में उनकी स्वर्ण मूर्ति को वहा प्रतिष्ठित किया, उससे उनकी स्त्री के प्रति जो आदर्श और सम्मानित दृष्टि थी, उसके प्रस्तुत करने का एक विशिष्ट उद्देश्य था, जिसे बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया गया। श्री राम की लंका पर चढ़ाई सीता प्राप्ति के लिए तो थी ही, परन्तु उस चढ़ाई का इतना ही सीमित उद्देश्य न था। तत्कालीन नारी समाज के प्रति सम्मानित दृष्टिकोण की प्रस्तुति भी उसका उद्देश्य था। इन विभिन्न तथ्यों से तत्कालीन शासकों को अवगत कराने में तुलसी की लेखनी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। तभी तो कहा जाता है कि अकबर की तलवार वह काम न कर सकी जो काम

इस भाषागत भेद को समाप्त करने के लिए तुलसीदास ने ब्रज भाषा में कृष्ण-काव्य की रचना कर राम-कृष्ण की एकरूपता का प्रतिपादन कर अपनी उदारता और समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय देकर तत्कालीन कवियों और लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया।

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति में कौन बड़ा या छोटा? है ज्ञानी श्रेष्ठ है या भक्त इस विषय के विवाद के उत्तर में कवि ने मानस में ज्ञान और भक्ति का विशद विवेचन प्रस्तुत करने के उपरान्त दोनों को ही प्रभु का बालक माना है और कहा है कि ज्ञानी भी प्रभु को प्यारा है पर भक्त क्योंकि प्रभु का आश्रय अधिक लेता है वह छोटे बालक जैसे मां बाप को प्रिय होता है, वह भी प्रभु को उसी तरह प्यारा लगता है।

गृहस्थ अच्छा है या वैराग्य, इसका उत्तर भी मानस में उपलब्ध है। मानस के साथ साथ तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है कि

> जाके प्रिय न राम विदेही।
> तजिए ताहि कोटि बैरि सम, जदपि परम सनेही
> तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण भाई ।

गृहस्थी हो या वैरागी, इसका प्रभु भक्त और प्रभु प्रिय होना परम आवश्यक है। इसके बिना किसी का भी कोई मूल्य नहीं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महात्मा बुद्ध के बाद समन्वयवाद के प्रतिपादक गोस्वामी तुलसीदास ही हैं, जिन्होंने तत्कालीन हिन्दू समाज की विसंगतियों और विषमताओं में समन्वय की स्थापना कर भारतीय संस्कृति की समन्वय की प्रवृत्ति को विशेष रूप में उजागर किया था।

समन्वय सहिष्णुता, उदारता ग्रहणशीलता आदि विशेषताएँ हो तो हैं जिनके कारण अनेकानेक वर्षों तक विदेशियों के आक्रमणों के बाद भी भारतीय संस्कृति की पताका विश्व में अनवरत रूप में लहरा रही है।

निःसन्देह गोस्वामी जी ने भी राम और कृष्ण से सम्बद्ध लगभग एक दर्जन कृतियाँ लिखी हैं, जिनमें उनके काव्यकौशल और चिन्तन की झांकी मिलती है तब भी मानस सरीखी कृति के कारण उन्हें जो ख्याति मिली है, उसका कोई तुलना नहीं। इन कृतियों के काव्य-वैभव को देखकर ही तो

भक्ति और शक्ति के अवतार
गुरु गोविन्दसिंह

'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवतते।'

'शस्त्र द्वारा सुरक्षित राष्ट्र मे ही शास्त्र का चिन्तन और मनन किया जा सकता है।

जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं दुष्टो के विनाश और सज्जनो के उद्धार के लिए ससार म अवतार लेता हूँ। यह बात श्रीकृष्ण ने गीता म अर्जुन के समक्ष उदघोषित की थी—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-सस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥

इससे मिलती-जुलती बात विचित्र नाटक मे गुरु गोविन्दसिंह ने अपने जन्म और उद्देश्य के विषय मे स्पष्ट की है —

हम ईश्वर ने धरती पर इसलिए भेजा है कि मैं जहाँ-जहाँ दुष्टो को देखूँ, उन्हे जड़मूल स नष्ट कर दूँ। आप सब लोग इस मनमे भली भाँति समझ लें कि धर्म का प्रचार, सज्जनो का उद्धार तथा समस्त दुष्टो का विनाश ही मेरे जीवन का मूल लक्ष्य है—

हम इह काज जगत मों आए।
धरम हेतु गुरदेव पठाए।

जहाँ तहाँ तुम धरम विथारो ।
दुसट देखियत पकरि पछारो ॥
यही काज हम धरा जनमम ।
समझ लेऊ सत्र मन मम ।
धरम चलावन सन्त उबारन ।
दुसट सबन को मूल उपारन ॥

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि परिस्थितियों की पुकार के अनुरूप कभी देश में धार्मिक नेतृत्व अवतरित हुआ, तो कभी राजनीतिक नेतृत्व, कभी आर्थिक दुर्दशा को सँवारने की क्षमता वाला नेतृत्व देश में आया तो कभी सामाजिक नेतृत्व । जहाँ तक गुरुगोविन्द सिंह जी का सम्बन्ध है, उनमें मीरी (शासक) और पीरी (गुरु) का मणिकांचन संयोग है। इनके व्यक्तित्व में भक्ति और शक्ति का अद्भुत मिश्रण है। यह वैशिष्ट्य अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अपितु असम्भव है।

उपर्युक्त विशेषताओं से विभूषित विभूति गुरुगोविन्द सिंह का जन्म बिहार के पाटलिपुत्र नगर में गुरु तेगबहादुर जी के घर संवत १७२३ को हुआ था। ५-६ वर्ष तक पटना रहने के बाद पिता के साथ आनन्दपुर (पंजाब) जाते समय इन्हें देश भर के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों के देखने का सुअवसर मिला। उस समय इनकी आयु छोटी थी, तब भी उन तीर्थों से इन्हें जो संस्कार मिले उन संस्कारों ने इनके व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

पटना में ही इनके बाल्यकाल की एक घटना उल्लेखनीय है जिससे प्रतीत होता है कि बाल्यकाल में ही इनके व्यक्तित्व में राष्ट्रीय स्वाभिमान, साहस, निर्भीकता आदि का समावेश हो चुका था। घटना के अनुसार पटना में नवाब की सवारी बाजार में आ रही थी। आगे चलते हुए चोबदार ने इन्हें नवाब को सलाम करने का आदेश दिया जिसे सुनकर बालक गोविन्द सिंह ने नवाब को स्वयं सलाम नहीं किया अपितु अपने साथ चल रहे साथियों को भी सलाम करने से रोक दिया।

यह घटना अपने आप में छोटी होते हुए भी इनके भावी जीवन के गौरवशाली इतिहास की ओर इंगित करने के लिए पर्याप्त है।

आनन्दपुर में रहते हुए बालक गोविन्दसिंह ने अपने पिता गुरु तेग बहादुर जी को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए बलिदान देने की जो महत्वपूर्ण प्रेरणा दी थी उसने तो तेगबहादुर जी को आश्वस्त कर दिया था कि उनके बाद देश और धर्म की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेने की क्षमता इस बालक में विद्यमान है। अब वह निश्चिन्त होकर धर्म के लिए बलिदान हो सकते हैं। घटना इस प्रकार है

आनन्दपुर में काश्मीर से ब्राह्मणों के नेतृत्व में हिन्दुओं का जत्था गुरु तेगबहादुर के पास आया। उन्होंने बताया कि दिल्ली के शासक औरंगजेब का प्रतिनिधि शेर अफगान उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए विवश कर रहा है। उसके अत्याचारों से पीड़ित हम आपकी शरण में आए हैं। यह सुन कर गुरु तेगबहादुर जी को लगा कि इन लोगों की धर्मरक्षा के लिए किसी महान् व्यक्ति को बलिदान देना होगा। गुरु जी जब इस प्रकार के विचारों में मग्न थे उनके समीप बैठे बालक गोविन्दसिंह ने पिता से कहा कि आपसे बड़ा और महान व्यक्ति कौन होगा जो बलिदान दे। आपको स्वयं ही बलिदान के लिए प्रस्तुत होना होगा। बालक गोविन्द की बात ने गुरु तेगबहादुर जी के मन को छू लिया और उन्होंने स्वयं बलिदान देने का संकल्प करते हुए कश्मीरी पंडितों को कहा कि वे जाकर शेर अफगान को कह दें कि यदि उनके गुरु गुरुतेगबहादुर जी हिन्दू धर्म को छोड़कर मुसलमान बनने को प्रस्तुत होंगे तो वे भी उनके पीछे धर्म परिवर्तन कर लेंगे। फलतः गुरु तेगबहादुर औरंगजेब के पास दिल्ली गये और वहाँ हिन्दू धर्म न छोड़ने के कारण उन्होंने शीश दे दिया, पर धर्म न दिया, तभी तो कहा गया था कि "तेगबहादुर हिन्दू दी चादर", अर्थात तेगबहादुर जी ने अपना शीष देकर हिन्दुत्व को बचा लिया। इस प्रकार बालक गोविन्द ने पिता को हिन्दू धर्म पर बलिदान होने की बात कहकर हिन्दुत्व की रक्षा में अपने पिता की बलि चढ़ाकर धर्म पर शहादत की शुरूआत की।

गुरु तेगबहादुर के अद्वितीय बलिदान के बाद मात्र ९ वर्ष की वय में ही इन्हें गुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इससे कुछ लोग इनसे ईर्ष्या भी करने लगे। अनेक पहाड़ी राजाओं ने ईर्ष्यावश इन्हें युद्धों के लिए भी ललकारा परन्तु उन्हें मुँह की खानी पड़ी। इन युद्धों ने इनके व्यक्तित्व को और

भी निखार दिया। इन युद्धों में इनके युद्धकौशल, राजनीतिक सूझबूझ तथा युद्ध करने वाले अनुयायी योद्धाओं के नेतृत्व की क्षमता का परिचय मिला। निरन्तर अनेक वर्षों से युद्धरत रहने के कारण कुछ योद्धा तंग आकर इनसे हट गए थे, पर अन्ततः वे इनके वापस लौट आये और अवज्ञा के लिए क्षमा मांगने को विवश हुए। गुरुजी ने अपने हृदय की विशालता एवं उदारता का परिचय देते हुए इन्हें क्षमा कर दिया।

गुरु गोविन्दसिंह मात्र ३ वर्ष तक यमुना के किनारे (हिमाचल प्रदेश) पौंटा साहब में रहे। शेष समय उन्होंने आनन्दपुर साहब में ही बिताया।

सम्वत् १७४६ के आस पास के ५-६ वर्ष शान्ति के वर्ष थे। इस समय का उपयोग उन्होंने रामायण, महाभारत, चण्डी-चरित्र, हनुमान जी से संबद्ध रचनाओं के अध्ययन, मनन, चिन्तन में बिताया। इसी समय काशी में संस्कृत के अध्ययन के लिए भी उन्होंने कुछ सिंहों को भेजा। हिन्दुत्व की सांस्कृतिक चेतना की प्रतिमूर्ति गुरु गोविन्द सिंह ने भक्ति के क्षेत्र में व्याप्त रूढ़ियों एवं बाह्य आडम्बरों का खण्डन कर सरलता और स्पष्टता प्रदान की। उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व के माध्यम से औरंगजेब के अत्याचारों के विरोध करने का शौर्य, साहस और अदम्य उत्साह समाज को प्रदान किया। विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों के फलस्वरूप निष्प्राण, शौर्यहीन, हतप्रभ, सुषुप्त एवं मुमूर्षु हिन्दू जाति को अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिए तैयार कर पाठ भी पढ़ाया। इसमें उनके व्यक्तित्व में विद्यमान धर्म-सुधारक एवं राजनीतिक नेतृत्व की शक्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। तत्कालीन औरंगजेबी अत्याचारों से स्थायी रूप से समाज को निश्चिन्त करने के लिए उन्होंने जिस खालसा पंथ की स्थापना की। वह भी इतिहास का अद्भुत घटना ही है। पराजित प्रताड़ित एवं निर्वीर्य बने हिन्दू समाज में जीवन का मंत्र फूंकने के लिए उन्होंने एक भरे दीवान में हिन्दू समाज में जातीयता और क्षेत्रीयता की विष बेला का जड़ से उन्मूलन कर उन्होंने सर्वप्रथम धर्म के लिए बलिदान होने वाले पाँच व्यक्तियों को गुरु के समक्ष आने का आह्वान किया। गुरु के सामने उपस्थित होकर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए आने वाले वीर थे—लाहौर का खत्री दयाराम, दिल्ली का जाट धर्मदास, द्वारका का धोबी हुकमचन्द, बिदर का नाई साहब

चन्द, जगन्नाथ पुरी का कहार हिम्मतराय। गुरु जी ने इन पाँचों वीरों को साथ ले जाकर एक-दूसरे तम्बू में छिपा दिया। उनके स्थान पर पाँच बकरों का सिर काटकर बलिदान दे दिया, जिनकी प्रवाहित रक्त धारा से दीवान में उपस्थित संगत को विश्वास हो गया कि पाँचों वीरों का बलिदान हो गया है। इस घटना के थोड़ी देर बाद पाँचों वीरों को संगत के सामने प्रस्तुत कर गुरु जी ने उन्हें नमन कर सम्मानित किया जो बाद में पंज प्यारे के नाम से प्रसिद्ध हुए। गुरु जी ने उन्हें गुरुत्व प्रदान किया और उन्हीं के हाथों से अमृत पान कर उन्हें प्रतिष्ठा प्रदान की। इस प्रकार एक नये पंथ का निर्माण कर उन्होंने मृतप्राय जाति में संजीवनी का संचार किया और उन्हें पाँच प्रकार (ककार) कड़ा, कच्छा, कंघा, कृपाण और केश, धारण करने की आज्ञा देकर नवीन सेना की स्थापना की।

यह गुरुजी का ही आशीर्वाद था कि नये उत्साह से सम्पन्न खालसा सेना ने गुरुजी के समय में और उसके बाद मुगल सेना और ब्रिटिश सेना के साथ तगड़ा युद्ध करके अपने जीवट का परिचय दिया। इस प्रकार चिड़ियों से बाज लड़ाने का गुरुजी का आप्तवचन सार्थक हो पाया।

खालसा पंथ की स्थापना ने औरंगजेब सरीखे हिन्दू विरोधी शासक को और भी बेचैन कर दिया। उसने आनन्दपुर का घेरा और गुरुजी को पराजित करने के लिए अनेक सेनापतियों को [illegible]। इधर गंगू ब्राह्मण के छल से गुरुजी के दो साहबजादे सरहिन्द के नवाब के यहाँ पहुँचा दिए गए जिन्होंने हिन्दू धर्म छोड़ने की अपेक्षा अपने को दीवारों में चुना जाना स्वीकार कर अपने पूर्वजों और स्वयं पिता की धर्मध्वजा को और भी ऊँचा उठा दिया। [illegible] हजारों योद्धाओं के साथ गुरु जी के दो साहबजादे युद्ध में खेत रहे। सारा [illegible] के बलिदान के बाद [illegible] गुरु जी ने अपनों [illegible] पर आ उतार लिया, यह [illegible] में अंकित है—

इन पुत्रन के कारणे वार दिये सुत चार।
चार मुए तो क्या हुआ जीवित कई हजार॥

[illegible] के अनुसार [illegible] और हृदय की [illegible] का परिचय [illegible] उनकी महान [illegible]

खालसा वीरो को सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान की। इसीलिए गुरु जी को दशमेश पिता भी कहा जाता है।

अनेक वर्षों तक युद्धो म रत रहने के उपरान्त गुरु जी ने पंजाब से बाहर देश के दक्षिण क्षेत्र मे जाकर रहने का मन बना लिया। दक्षिण भारत की ओर जाते हुए मार्ग मे एक स्थान पर उनकी भेंट माधवदास वैरागी से हो गई। गुरु जी ने उनकी रीति-नीति और व्यक्तित्व की परख के उपरान्त उन्हें वैराग्य छोड पंजाब म हिन्दुओ पर अत्याचार करने वाले मुगलो से लोहा लेने की प्रेरणा दी। गुरुजी से प्रेरणा प्राप्त कर माधवदास ने वीरबन्दा वैरागी बनकर अनेक वर्षों तक मुगल सेना से लोहा लिया और जीवन के आखिरी क्षण तक उनसे लडकर प्राणोत्सर्ग किये।

इधर जब गुरुजी दक्षिण मे जा रहे थे, तो सरहन्द के सूबेदार ने दो पठानो को उनके पीछे भेज दिया, जो समय मिलने पर, उनकी हत्या कर दें। नान्देड मे वे पठान उनके भक्तो और श्रद्धालुओ म मिल गये और गुरु जी के उपदेशो को श्रवण करने लगे। अचानक एक दिन अवसर पाकर एक पठान ने उनके पेट मे छुरा घोप दिया। गुरु जी ने बडी तत्परता से तलवार चलाकर उसे मार तो दिया, पर छुरे के घाव ने उन्हें बहुत दुखन कर दिया। बहुत दिनो बाद जाकर उनका जख्म ठीक हो पाया। इसी बीच एक दिन कमान पर चिल्ला चढाते हुए उनके पेट का घाव फिर खुल गया, जो अन्तत प्राणान्तक सिद्ध हुआ।

अपना अन्त समय निकट देखते हुए गुरु जी ने अपनी शिष्य-मण्डली को एकत्रित कर उन्हें उच्च आचरण और मर्यादापूर्वक धर्मपालन का संदेश देते हुए विधिपूर्वक गुरु ग्रन्थ साहब को गुरु पद पर आसीन करते हुए कहा कि अकाल पुरुष के आदेश से ही उन्होंने खालसा-पंथ की स्थापना की थी। अब सब शिष्यो के लिए यही आदेश है कि वे उनके बाद गुरुग्रन्थ साहब को ही अपना गुरु मानें। गुरु ग्रन्थ को ही गुरु मानना चाहिए क्योंकि इसी म गुरुओ की वाणी विद्यमान है। जो शिष्य प्रभु को मिलना चाहेगा उन्हें गुरु-वाणी ही मार्गदर्शन करेगी—

आगिया भइ अकाल की, तभी चलायो पथ ।
सब सिक्खन को हुक्म है, गुरु मानियो ग्रथ ॥
गुरु ग्रथ जो मानियो, प्रकट गुरा की देहु ।
जो प्रभु को मिलवो चहै, खोज शबद मे लेहु ॥

गुरु जी समझते थे कि इस देश की सस्कृति मे व्याप्त असीम श्रद्धा के फलस्वरूप शिष्य मडली कहीं उनमे ईश्वरत्व की स्थापना कर ईश्वर विमुख न हो जाए, इसलिए उन्होने बडे ही स्पष्ट शब्दो मे उद्घोष किया था कि जो मुझे ईश्वर मानने की बात करेगा, वह नरक का अधिकारी होगा । इसी प्रकार उन्होने हिंदुत्व की रक्षा के लिए खालसा पथ का निर्माण करते हुए उद्घोषित किया था कि —

सकल जगत मे खालसा गाजे ।
जो धरम हिंदू सकल भण्ड भाजे ॥

प्रभु से प्रार्थना करते हुए उन्होने कहा था कि प्रभु ! आप आज्ञा दीजिए, मैं सकल जगत मे तुरको को मिटा दू और गोहत्या के पाप को ससार भर से समाप्त कर सकू—

यही देहु आग्या तुरक को मिटाऊँ ।
गऊ घात का पाप जग से हटाऊँ ॥

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि हिन्दुत्व के शत्रुओ से सघर्षरत गुरुजी ने शक्ति की आराधना करते हुए भगवती से यही वर मागा था कि माँ ! आपके आशीर्वाद से मैं युद्ध मे ही शत्रुओ का सहार करते हुए प्राणार्पण करूँ । भारतीय सस्कृति एव हिंदुत्व की इस श्रेष्ठ एव उज्ज्वल परम्परा का निर्वाह करते हुए ही उन्होने प्राणो की बाजी लगाकर माँ भारती की गौरवमयी परम्परा का निर्वाह करते हुए, अपने पिता अपने पुत्रो और स्वय का बलिदान कर भारतीय इतिहास मे तीन पीढियो का बलिदान देकर बलिदानियो की परम्परा मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया । इनका महान बलिदान एक प्रकाश-स्तभ बन कर सब तक परवर्ती पीढ़ियो को प्रेरणा देता रहेगा,

जब तक कि चन्द्र और दिवाकर संसार में प्रकाशमान रहेंगे।

शक्तिस्वरूपा भगवती चण्डी के चरणों में अर्पित गुरु जी के निम्न कथन के साथ इस बलिदानी विभूति के चरणों में शत-शत नमन—

देहु शिवा वर मोही इहे, शुभ कमन से कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि से जब जाइ लरौं, निश्चय कर अपनी जीत करौं।
अरु सिक्ख हौं अपने मन को, इह लालच हौं गुण तो उच्चरौं।
जब आव अउद निदान बने, अत ही रण में तब जूझ मरौं।।

महर्षि स्वामी दयानन्द

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरेवा।
न्याय्यात पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा॥

'नीतिवान निन्दा करें या स्तुति, धन प्राप्ति हो या न, आज मृत्यु हो या युगो बाद। इन बातो की चिन्ता किए बिना धीर पुरुष न्याय के मार्ग से कभी विचलित नही हुआ करते। अर्थात धैर्यशील धीर पुरुष न्याय के मार्ग का अवलम्बन करके उससे कभी भी नही हटा करते।'

'मैं सादर प्रणाम करता हूँ उस महागुरु दयानन्द को जिसकी दिव्य दृष्टि ने भारत की आत्म गाथा मे, सत्य गाथा मे सत्य और एकता का बीज देखा। जिसकी प्रतिभा ने भारतीय जीवन के विविध अगो को प्रदीप्त कर दिया, जिसका उद्देश्य इस देश को अविद्या, अकर्मण्यता और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व विषयक अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता के जागृत लोक मे लाना था उस गुरु को बारम्बार मेरा प्रणाम है।' कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन शब्दो मे ऋषि दयानन्द को भावाजलि अर्पित करते हुए उनके गुरुतर कार्य की ओर आत्मविस्मृत हिन्दू समाज का ध्यान आकर्षित किया था।

ऋषिवर स्वामी दयानन्द ने पराधीन भारत मे पाश्चात्य भौतिकवादी सभ्यता की आँधी मे हिन्दू समाज का परित्राण करने के लिए तथा अतरा

नेक अंधविश्वासों और धार्मिक रूढियों से ग्रस्त समाज को वैदिक कर्म-योग का पाठ पढ़ा कर पुनर्जीवन दान देकर सत्य धर्म की संस्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखाया। विदेशी दासता के दिनों में हमारा समाज धार्मिक कूपमण्डूकता के गर्त में फंस कर रह गया था। धर्म के नाम पर अनेकानेक आडम्बरों और अंध रूढियों ने इसकी सतत प्रवाहमग्न गति एवं निरंतरता की धारा को अवरुद्ध कर दिया था। स्वार्थ-परायण तथा संकीर्णता के ध्वज वाहक कतिपय मठाधीशों ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को ही जब बदल डाला था, फलतः कभी विश्व का अगुआ हिन्दू समाज अपनी अस्मिता को ही भूलने लगा था। आत्मविस्मृति के कगार पर पहुँचे हिंदू समाज की अस्मिता की रक्षा करने और रूढियों और आडम्बरों के घटाटोप से समाज को उबारने का दुस्तर कार्य किया महर्षि दयानन्द सरस्वती ने। इन्होंने सत्य सनातन वैदिक धर्म की ध्वजा हाथ में लेकर सम्पूर्ण देश में फैले अज्ञान के तिमिर को छिन्न भिन्न करने में जो सफलता प्राप्त की, उस संघर्ष और सफलता का इतिहास स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

हिन्दुत्व के आधार-स्तम्भ महर्षि दयानन्द का जन्म पश्चिमी भारत के तत्कालीन सौराष्ट्र की मौर्वी रियासत के टंकारा नामक गांव में एक शैव ब्राह्मण परिवार में सन् १८२४ ईस्वी में हुआ था। इनके पिता श्री अम्बा-शंकर मौर्वी राज्य के एक सम्मानित पदाधिकारी थे। स्वामी जी की शिक्षा वेदारम्भ संस्कार के साथ पांच वर्ष की आयु में ही शुरू हो गई थी। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत इन्होंने विधिवत् शिक्षा ग्रहण करते हुए वेद शास्त्रों का अध्ययन एवं मनन शुरू कर दिया। कुशाग्रबुद्धि होने के कारण और पारिवारिक संस्कारों के कारण यह बहुत कम समय में ही वेदशास्त्रों में निष्णात हो गए। एक जिज्ञासु विचारक के नाते इनकी ख्याति चारों ओर फैलने लगी।

अध्ययन, चिन्तन, मनन के महत्त्वपूर्ण कार्य में निमग्न स्वामी दयानन्द, के जीवन में जो कि उस समय मूलशंकर के नाम से जाने जाते थे, इस समय एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी, जिसने आगे चलकर इनकी जीवन धारा को एक नया और महत्त्वपूर्ण मोड़ दे दिया। पारिवारिक परम्परा के

अनुसार शिवरात्रि की रात्रि को शिव की पूजा के समय गणेश-वाहन मूषक ने जब शिवलिंग पर चढ़ायी गई पूजा-सामग्री के साथ खिलवाड़ किया, तो उससे उत्तेजित होकर इन्होंने शिव के पार्थिव चिह्न को छोड़ शिव के सत्य सनातन रूप की खोज का मार्ग अपनाने का संकल्प कर डाला। इस घटना ने उन्हें साकार की उपासना के मार्ग से हटाकर ईश्वर के निर्गुण, निराकार रूप की आराधना की ओर अग्रसर किया। इनके इस दृढ़ संकल्प के आगे न तो परिवारजनों की ही कोई बात चल सकी और न ही कोई अन्य विधि विधान। फलतः मूल शंकर भगवान शंकर के मूल स्वरूप का समर्थन के लिए अपने गांव से बाहर निकल कर सत्यान्वेषी बनकर शिव के सत्य स्वरूप की खोज के लिए टंकारा से बाहर आ गया। इसमें परिवार के लोगों ने उन्हें विवाह के बंधन में बांधने का प्रयास कर उन्हें अपने पास रखने का यत्न भी किया था, परन्तु विधि को कुछ और ही स्वीकार था। प्रभु मूल शंकर से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य की अपेक्षा कर रहे थे, प्रभु प्रेरणा से मूल शंकर वहां से बाहर आए। पिता ने एकाध बार इन्हें घर ले जाने का प्रयत्न भी किया, परन्तु उसमें उन्हें सफलता न मिली, क्योंकि परमपिता परमेश्वर को उनसे जो काम लेना था वह बहुत असीम था, उसमें व्यष्टि की बजाय समष्टि का सुख और कल्याण निहित था, वह भला मूलशंकर को परिवार के सीमित और संकीर्ण घेरे में कैसे रहने देते ?

मूलशंकर ने टंकारा छोड़ने के पश्चात गेरुए वस्त्र धारण कर सत्य की खोज में एवं उपयुक्त मार्गदर्शक गुरु की तलाश में यत्र-तत्र भ्रमण जारी रखा। अंततः वह भ्रमण करते हुए नर्मदा नदी के तट पर अवस्थित चाणोद कल्याणी नामक स्थान पर परमहंस परमानन्द के आश्रम में जा पहुँचे। वहीं वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त दण्डी स्वामी पूर्णानन्द जी के हाथों विधिवत संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण के साथ ही मूलशंकर दयानन्द बन और ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में आ पहुँचे।

सन्यासी बनने के बाद एक स्थान पर डेरा लगाने की अपेक्षा इन्होंने विन्ध्य पर्वतमाला को पार कर उत्तर भारत में हिमालय की ओर जाना उचित समझा। वर्षों तक इस क्षेत्र में रहकर अपने ज्ञान, चिन्तन मनन

को विस्तृत रूप देकर और योगाभ्यास आदि में निष्णात होकर अपने भ्रमण के कार्यक्रम को जारी रखा। इसी बीच कठोर साधना, योगाभ्यास आदि से उनका शरीर वज्र समान सुदृढ़ हो चुका था। स्वामी जी का विश्वास था कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन वास करता है। इस भावना से प्रेरित होकर वह जहाँ शरीर को सुदृढ़ आधार दे रहे थे, वहीं वह व्याकरण, दर्शन आदि के गूढ़ रहस्यों का अध्ययन भी जारी रखे हुए थे, परन्तु अभी तक सर्वगुण सम्पन्नता की खोज में भी संलग्न थे। वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए वह श्रीकृष्ण की जन्मस्थली मथुरा नगरी में आये। यहीं उन्हें स्वामी विरजानन्द सरीखा सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी एक गुरु मिल गया। सत्य तो यह है कि गुरु को योग्य शिष्य की तलाश थी तो शिष्य को भी योग्यतम गुरु की। गुरु शिष्य के इस संगम ने दोनों की इच्छाओं को मूतरूप दिया। स्वामी विरजानन्द वर्ग के अद्वितीय विद्वान थे, उन्होंने वेद मन्त्रों को नव्य दृष्टि में देखा था और नई व्यवस्था प्रदान की थी। स्वामी दयानन्द भी ऐसे गुरु की खोज में थे, जो उन्हें परम्परागत मार्ग से परे हटकर नई दृष्टि दे सके। दोनों का मिलन इतिहास की अपूर्व घटना बना और गुरु विरजानन्द भी स्वामी दयानन्द को पाकर अति सन्तुष्ट हुए। गुरु की सन्तुष्टि के फलस्वरूप दयानन्द जी ने पूरी तन्मयता से अध्ययन और मनन में मन लगाया। गुरु विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त स्वामी दयानन्द ने गुरुदक्षिणा देनी चाही, तो गुरु ने कहा कि मात्र आधा किलो लौंग देकर ही मुक्त नहीं हो सकते। गुरु जी का कहना था कि उनका मेधावी शिष्य दयानन्द प्रतिज्ञा ले कि वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हिन्दू जाति के उद्धार के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग करेगा। गुरु जी के इन विचारों को मूर्त रूप देने के लिए स्वामी जी ने अज्ञान के आवर्त में आबद्ध हिन्दू जाति के उद्धार का दृढ़ संकल्प लेकर गुरु की इच्छा की पूर्ति की ओर वैदिक धर्म की पताका सम्पूर्ण देश में फहराने का दृढ़ प्रण लेकर वहाँ से विदा ली।

१८६७ ई० में महाकुम्भ के अवसर पर स्वामी दयानन्द ने हरिद्वार में 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' फहराकर अपने दृढ़ संकल्प को कार्यान्वित किया। पाखण्ड के विरुद्ध पहला शंखनाद कर उन्होंने अंधविश्वासों,

रूढ़ियों एवं कुसम्प्रदायों को दूर करने के लिए आर्यजनों का आह्वान किया। फलतः हजारों की संख्या में हिन्दू जाति के आर्यजन उनके व्यक्तित्व और विद्वत्ता से आकर्षित होकर उनके विचारों के अनुयायी बनने लगे। हरिद्वार जैसे पावन तीर्थ में जो सिलसिला चला, जो परम्परा बनी वह आज तक भी अनवरत गति से बनी हुई है। नि सन्देह स्वामी जी का पार्थिव शरीर आज हमारे बीच नहीं है तो भी उनके द्वारा प्रदत्त विचारधारा अनन्त सलिला सरिता की भाँति निरन्तर प्रवहमान है जो यावत् चन्द्र दिवाकरौ भारतीय जनमानस को प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

हरिद्वार से लौटकर स्वामी जी ने देश के विभिन्न तीर्थों पर और अन्यान्य छोटे-बड़े नगरों का भ्रमण करते हुए धर्म-ध्वजियों को ललकारा आदि गुरु शंकराचार्य की भाँति देश के कोने-कोने में पहुँचकर उन्होंने शास्त्रार्थ के माध्यम से सत्य सनातन वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार किया।

स्वामी दयानन्द यद्यपि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे, तो भी अपनी बात को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने हिन्दी को ही माध्यम चुना। इस प्रकार उन्होंने आजादी मिलने से अनेक वर्ष पूर्व ही हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया। यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी पर अपनी बात अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए वह हिन्दी को ही उचित समझते थे, इसी तरह एक अहिन्दी भाषी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित ने अपनी उदारता का प्रदर्शन कर देश और समाज के हित में हिन्दी को ही महत्ता प्रदान कर भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी कृति सत्यार्थप्रकाश एवं अन्य अनेक रचनाएँ हिन्दी में ही लिखी गईं और आर्य जनों को उन्होंने हिन्दी पढ़ने लिखने और व्यवहार में लाने की प्रेरणा दी।

स्वामी जी के शास्त्रार्थ से जहाँ श्रद्धालु प्रभावित होते थे, वहाँ ईर्ष्यालुओं की भी कोई कमी न थी। समाज में प्रचलित बहुदेवोपासना, मूर्तिपूजा अनेक देव-वाद के विरुद्ध स्वामी जी ने अपने अकाट्य तर्कों द्वारा जहाँ सहस्रों लोगों को प्रभावित किया, वहाँ उनके विरोधियों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। इस विशाल देश के विशाल समाज में ऐसा होना

अस्वाभाविक भी न था। वर्षों से प्रचलित उपासना-पद्धति को एक साथ छोड़ना अथवा तर्क पूर्ण कतिपय शास्त्रार्थों के कारण उसमें एक साथ विमुख होना कोई सहज बात भी नहीं थी। वैसे भी हिन्दू समाज में ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूप की उपासना अनादि काल से चली आ रही थी।

जन-साधारण सगुणोपासना में ही आत्म-त्राण खोजता था, तो ज्ञानी और विचारक निर्गुण रूप के चिन्तन में आनन्दित होता था। अस्तु, स्वामी जी ने निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना की जमकर वकालत की और उसे वैदिक मर्यादानुकूल बताया। इससे सहसा हिन्दू धार्मिक और उपासना सम्बन्धी रूढ़ि पर पुनर्विचार के लिए तो तैयार हो ही गये।

स्वामी जी ने स्त्री शिक्षा, बाल विवाह विरोध, अस्पृश्यता निवारण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए और वर्ण-व्यवस्था को जन्म से न मानकर कर्म से ही मानने की प्रेरणा दी। इन कुप्रथाओं के कारण हिन्दू-समाज का सम्पूर्ण कलेवर चरमरा रहा था। इस ओर कार्य कर और अपने अनुयायियों को इसकी प्रेरणा देकर उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू समाज के कायाकल्प का गुरुतर कार्य अपने ऊपर लिया। इसके साथ-साथ उन्होंने हिन्दू धर्म छोड़कर अन्य धर्मों में गये लक्षावधि हिन्दुओं को वापिस लाने के लिए पुनरावर्तन (शुद्धि) की ओर भी समाज का ध्यान आकृष्ट किया। इससे हिन्दू समाज को एक नई दिशा और दृष्टि मिली, अन्यथा इससे पूर्व तो यह स्थिति थी कि जो भी व्यक्ति हिन्दू समाज से एक बार गया वह वापिस लौट ही नहीं सकता था। तथाकथित धर्म-ध्वजी एक बार भूल से भी अन्यत्र गये हिन्दू को वापस लेने को तैयार न थे। आगे चलकर इस नई दृष्टि को कट्टर सनातनी हिन्दुओं ने भी सहर्ष स्वीकार किया। फलतः धर्म परिवर्तन पर किसी सीमा तक अंकुश लग गया।

स्वामी जी ने मित्रों शत्रुओं की परवाह किए बिना अपने गुरु स्वामी विरजानन्द को दिये वचन पर चलते हुए हिन्दू धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों की रूढ़ियों पर भी जमकर प्रहार किया। वह निन्दा-स्तुति से न डरते थे। उनके सामने सम्भवतः भर्तृहरि का यह श्लोक रहा होगा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम ॥
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

नीतिवान् निन्दा करें या स्तुति, धन आये या चला जाय । मत्यु आज हो या सदियो बाद, न्याय और सत्य के माग पर चलने वाले धीर पुरुष कभी रुका नही करते ।

ई० १८७५ मे स्वामी जी ने अपने विचारो को मूर्त रूप देने और भविष्य म उनके प्रचार प्रसार हेतु आयसमाज की स्थापना की । आगे चलकर १८७७ म पजाब म लाहौर आयसमाज की स्थापना की और आय समाज के दस नियम बनाये । उन्ही की प्रेरणा स १८७७-८३ तक देश मे अनेकानेक उपासना मन्दिरो की स्थापना की गई । इस काय स देश भर मे विशेषत उत्तर भारत म, हिन्दू धम और समाज-सुधार के कार्यों को खूब बल मिला ।

इनके इस अदभुत और अद्वितीय काय को देखकर ही तो अरविन्द घोष ने कहा था कि स्वामी जी परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि के एक अद्वितीय योद्धा थे । मनुष्य और मानवीय सस्थाओ के सस्कारक और अदभुत शिल्पी थे ।

स्वामी जी की ख्याति स प्रभावित होकर १८८३ म मारवाड नरेश ने उन्हे अपने यहा निमन्त्रित किया था । वहाँ जोधपुर मे उन्होंने अपने उपदेशो से सहस्रावधि लोगो को प्रभावित कर आय-मर्यादा पर चलने की प्रेरणा दी । यहा रहते हुए वे विरोधियो के षडयन्त्र का शिकार हुए ।

यहाँ उन्हे दूध म विष दिया गया । जोधपुर से अस्वस्थ हालत म वे अजमेर आए । जहा ३० अक्टूबर १९८३ को उन्होने महानिर्वाण लिया ।

कहा जाता है कि उन्होने विष देने वाले रसोइये को पैसे देकर वहाँ से भाग जाने का आदेश दिया । ईश्वर इच्छा को नतमस्तक स्वीकार कर उन्होने योगादि से भी स्वय का उपचार किया, पर विष अपना काम

बहुत पहले कर चुका था फलत उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई।

स्वामी जी ने अपने जीवनकाल में स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेश का जो उद्घोष किया था, कालान्तर में वही उद्घोष 'स्वराज्य' के नारे का प्रेरक बना। आज वे स्वयं नहीं हैं, पर आर्य-समाज के रूप में उनकी कीर्ति-पताका सर्वत्र फहरा रही है और स्वामी श्रद्धानन्द गुरुदत्त आदि उनके प्रिय शिष्यों की जीवन गाथाएं हिन्दुत्व को प्रेरणा देने और हिन्दुत्व के आधार को सुदृढ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभा रही हैं। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति'।

भारतीयता के सजग प्रहरी स्वामी विवेकानन्द

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत

'उठो' जागो और वरण्य (वरणयोग्य) वस्तुओ का वरण करत हुए ससार मे आग बढो।'

कविवर रवीन्द्र क कथनानुसार "यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उस विवेकानन्द को पढना चाहिए।" महर्षि अरविन्द ने कहा था कि "पश्चिमी जगत् मे विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मत्यु से बचने को नही जगा है, वरन वह विश्व विजय करके दम लेगा।'

उपर्युक्त सदगुणो और विशेषताओ से समन्वित चरित्र के धनी थे स्वामी विवेकानन्द, जिन्होने भारत के पराधीनता के काल म भी अमेरिका और यूरोप के कई देशा में हिन्दुत्व दशन एव अध्यात्म की पताका फहरात हुए वहाँ के धम-ध्वजियो को बताया कि "धम-हीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश उसी तरह अवश्यम्भावी है जसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं।

आध्यात्मिकता को अनादत करक यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है। उन्होने भगवान मनु के इस कथन को सार्थक कर दिया जिसमे उन्होंने कहा था कि इस देश (भारत) मे उत्पन्न विद्वान से ससार-भर के मानव अपने-अपने चरित्रों की

शिक्षा ग्रहण करगे। अर्थात भारतीय विद्वान् और मनीषी ही ससार भर म जाकर चिन्तन और मनन द्वारा निज ज्ञान गगा से विश्व के जनमानस को आप्लावित करेंगे। पराधीन भारत के इस साधु ने विश्व मे जाकर यही काय कर के भारत और हिन्दू जाति का गौरव बढाया—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सव मानवा ॥

तत्कालीन भारतीयों मे राष्ट्रीयता का शखनाद फूकते हुए उन्होने कहा था कि "आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग एकमात्र स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्मभूमि की आराधना करो। इन वर्षो मे दूसरे देवताओ का भूल जाने मे भी कोई हानि नही है। दूसरे देवगण सो रहे ह, इस समय तुम्हारा देवता है राष्ट्र।"

१२ जनवरी १८६३ को कलकत्ता के एक सम्भ्रात परिवार म उत्पन्न नटखट नरेन्द्र, स्नातक होने के बाद अन्य अनेक बगाली युवाओ की तरह नास्तिक बन गये थ पर रामकृष्ण परमहस जस सिद्ध गुरु की छत्र छाया म आते ही उनका कायाकल्प हो गया और कई वर्षो तक उनके चरणो म बैठने पर उनकी कृपा के फलस्वरूप विवेकानन्द बनकर उन्होने देश विदेश म जाकर जो प्रचार किया उसी क फलस्वरूप उनकी कीर्ति-पताका सवत्र फहराने लगी। १८६६-० म स्वामी रामकृष्ण परमहस के देहावसान के बाद इन्होने कलकत्ता छोडकर विराट नगर क आश्रम म रहना शुरू किया। वहाँ कई वष अध्ययन, चिन्तन, मनन और तपस्या क उपरान्त इन्होने पहल देश भ्रमण का निणय लिया। इस समय इनके समक्ष तीन प्रमुख लक्ष्य थे—

१ बुद्धिवादी समाज म धम के बारे म फली अश्रद्धा का दूर करने के लिए धम की तर्कसगत व्याख्या प्रस्तुत करना।
२ यूरोपीय प्रभाव के कारण हिन्दू धम सस्कृति और हिन्दू इतिहास क प्रति अनास्था रखन वाले हिन्दुओ को आस्थावान बनाना।
३ भारतीयो को आत्म-गौरव की भावना स प्रेरित करना एव उन्ह भारतीय-सस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिकता तथा परम्परा का

योग्य अधिकारी बनाना।

स्वामी विवेकानन्द ने ३६ वर्ष की अल्पायु में ही इस गुरुतर कार्य को पूरा कर दिखाया। स्वामी जी के कार्यों को देखते हुए कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' ने कहा है कि 'अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से कहा गया। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र है, जिनमें धर्म, राजनीति और राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद और विज्ञान, सब-के-सब समाहित होते है।'

इस प्रकार अभावग्रस्त भारतीय जीवन के लिए विदेशों से एक सौदा करने का सुझाव भारतीय जनता को देते हुए उन्होंने कहा था कि "पश्चिम वालों से हम एक सौदा करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे।"

स्वामी विवेकानन्द जी के इस भ्रमण, उपदेशों-व्याख्यानों का एक ही लक्ष्य था—भारत की प्राचीन-संस्कृति को, प्राचीन धर्म को भारत की जनता और विदेशों के सम्मुख स्पष्ट करना। यह कार्य उन्होंने अपनी महिमामयी वाणी द्वारा किया। स्वामी जी की वाणी में अद्भुत ओज था। जिसे एक बार उनकी वाणी को सुनने का अवसर मिला, उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसके कानों में अमृत रस का सिंचन हो रहा है। वाणी के साथ-साथ उनका व्यक्तित्व भी महान था। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और स्वस्थ शरीर से न केवल भारतीय, अपितु अनेक विदेशियों ने भी महान प्रेरणा ली और उनके व्यक्तित्व में सत्य के दर्शन किए, ईश्वर के अंश का अनुभव किया। यही कारण था कि वे जहाँ भी गए और उन्होंने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा उसे असंख्य लोगों ने वेद-वचनों की तरह श्रद्धापूर्वक आत्मसात् किया।

विवेकानन्द जी के अनेक भाषण हैं, जो उन्होंने भारत के विभिन्न . . . में दिए और विदेशों में दिए। उन भाषणों का अध्ययन एवं उनके

विचारों का मनन करने से एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वह विशुद्ध भारतीयता के उपासक थे। आज के दूषित और स्वार्थपूर्ण राजनीतिक वातावरण ने हमारे चिंतन को इतना मलिन कर दिया है कि हम सत्य को समझते हुए, उसे अनुभव करते हुए भी सत्य कहने में संकोच करते हैं। हम भारतीयता के प्रति आस्थावान होते हुए भी, राष्ट्रीय बनने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय बनने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। हमें इन बातों की चिन्ता होती है कि हमारे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व में हमारी तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप में किसी प्रकार का सन्देह न किया जाय। अतएव हम भारतीयता का निर्वचन, भारतीय संस्कृति की व्याख्या करते हुए भी उन सभी अविच्छिन्न तत्त्वों को जानबूझ कर इसमें सम्मिलित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि हमारा अन्तर्राष्ट्रीय रूप सन्देह का विषय न बने।

स्पष्ट रूप में मुझे यह कहना है कि विवेकानन्द जी ने जिस सत्य की अनुभूति की थी, उसे निःसंकोच पूरे साहस के साथ, पूर्ण आस्था के साथ व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में भारतीयता, हिन्दुत्व से भिन्न नहीं थी। हिन्दुत्व के बिना भारतीयता की सम्भवतः कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय जीवन-पद्धति, भारतीय चिन्तन, भारतीय विचारधारा, ये सभी शब्द जब हम प्रयोग करते हैं, तो इनमें कोई ऐसी पद्धति या कोई ऐसा चिंतन नहीं है, जिसे हिन्दुत्व से पृथक करके समझाया जा सके। विवेकानन्द जी के प्रवचनों से, वेदान्त की व्याख्या से, देश एवं विदेश में दिए गए भाषणों में सर्वत्र यही बात स्पष्ट होती है। उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों के साथ धर्म की सामान्य एवं आधारभूत व्याख्या करते हुए यह सिद्ध किया है कि भारतवर्ष में अनन्तकाल से चली आने वाली यह जो एक शाश्वत जीवन पद्धति है जिसे आज हम भारतीय तो कह देते हैं, लेकिन हिन्दू जीवन-पद्धति कहने में कुछ संकोच करते हैं, यही वस्तुतः भारतीयता का शुद्ध रूप है। आज से ४४-४५ वर्ष पूर्व जब कभी हमारे देश में स्वतन्त्रता का संघर्ष चल रहा था। जब इस देश पर शासन करने वालों ने देश की बहुसंख्या के धर्म और संस्कृति को उपेक्षित करने के लिए मुस्लिम और गैर-मुस्लिम शब्दों का प्रचलन किया था। तत्कालीन

अंग्रेजी शासक साम्प्रदायिकता के नाम पर इसलिए इस देश के विभाजन की नीति से काम चला रहे थे, जिससे वे यह सिद्ध कर सकें इस देश में अनेक सम्प्रदाय एवं असंख्य जातियां हैं, इसलिए किसी भी सम्प्रदाय एवं जाति का इस पर आधिपत्य नहीं है। वही सम्प्रदाय शब्द आज तक भी हमारा राजनीति में हमारे व्यवहार में भ्रान्ति का विषय बना हुआ है। विदेशी शासकों द्वारा प्रसारित साम्प्रदायिकता का यह शब्द आज भी हमारे नेताओं को यह समझने का अवसर नहीं दे रहा है कि यदि भारत में हिन्दू एक सम्प्रदाय है तो फिर भारत क्या है, और भारतीयता का वास्तविक स्वरूप क्या है, और भारत के राष्ट्र रूप की कल्पना क्या है ? सत्य तो यह है कि हिन्दू कोई सम्प्रदाय या वर्ग नहीं है, अपितु इस देश में निवास करने वाले सभी लोगों का नाम हिन्दू है। हिन्दू शब्द एक व्यापक अर्थ रखता है। इसे समुदाय या जाति विशेष के लिए संकीर्ण अर्थ में प्रयोग करना अपनी अल्पज्ञता का परिचय देना है। हिन्दू तो भौगोलिक नाम है, जो इस देश के वासियों के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

हिन्दू एवं हिन्दुत्व के गौरव को लेकर स्वामी जी ने भी एक स्थान पर कहा है कि इस देश में सबसे महान और तेजस्वी मेधा-सम्पन्न पुरुषों का जन्म हुआ, जिनके हृदय में सत्य और न्याय के प्रति प्रबल अनुराग था, जिसके अन्तःकरण में अपने देश के लिए और सबसे बढ़कर ईश्वर तथा अपने धर्म के लिए अगाध प्रेम था—अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने पूर्वजों की इस महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति को सम्भाल करके रखें—हिन्दू नाम एसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक रहा, जो महिमामय और आध्यात्मिक है। यदि आज 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ, अपने आचरणों द्वारा यह दिखाने को तैयार हो जाओ कि समस्त संसार की कोई भी भाषा इससे ऊंची, इससे महान् शब्द का आविष्कार न कर सके। मेरे जीवन की यह नीति रही है कि मैं अपने पूर्वजों की सतान कहलाने में लज्जित नहीं होता—जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है जितना ही मैंने भूतकाल की ओर दृष्टि डाली है उतना ही गर्व मुझमें अधिक आता गया है। उसमें मुझे श्रद्धा, दृढ़ता और साहस हुआ है। उसने मुझे धरती की धूल को ऊपर उठाया है और मैं अपने उन

महान् पूर्वजों के निश्चित किए हुए नियम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ।'

आज से कुछ वर्ष पूर्व कहे गए विवेकानन्द जी के ये शब्द इस देश के वातावरण में गूंज रहे हैं। पर यह गूंज केवल उन्हीं लोगों को सुनाई देती है जिनके चिन्तन की दिशा सही है और जिनकी विचार-शक्ति का ठीक प्रकार के संस्कार प्राप्त हो चुके हैं। कितना आश्चर्य होता है आज इन लोगों की बातों को सुनकर जो यह कहते हैं कि अतीत को भूल जाओ, इतिहास को भूल जाओ, पूर्वजों को भूल जाओ, उनके द्वारा दी गई ज्योति और प्रकाश को भूल जाओ और एक ऐसे नए भारत का निर्माण करो, जिसमें सब कुछ नया हो। जिस देश की संस्कृति अनादि काल से चली आ रही हो, जिस देश का धर्म उतना ही पुराना हो जितना कि यह संसार है, जिस देश का धर्म सार्वभौम हो और सम्पूर्ण विश्व के मानव के कल्याण को लेकर चला हो, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का नाद जिनके कथ्य एवं कर्तृत्व में समाया हुआ हो, उन लोगों के धर्म एवं विचारधारा को मिटाकर एक नए देश और समाज की कल्पना की बात जो आज कतिपय नेताओं के मुख से सुनाई देती है, वह कितनी असंगत है। इसका निर्णय मैं पाठकों पर छोड़ता हूँ।

बर्बर आक्रमणों में भी अप्रतिहत रहने वाली इस हिन्दू जाति के बारे में स्वामी जी ने कहा था कि जैसे प्रत्येक मनुष्य का एक व्यक्तित्व होता है ठीक इसी प्रकार प्रत्येक जाति का भी एक व्यक्तित्व होता है। प्रत्येक जाति को किसी-न किसी देवनिर्दिष्ट मार्ग में जाना पड़ता है और उसे किसी विशेष व्रत का पालन करना पड़ता है। हमारे देश की अनेक लोक-कथाओं में इस प्रकार के किस्से सुनाए जाते हैं कि अमुक दैत्य या दानव के प्राण अमुक पक्षी में अटके हुए हैं, जब तक उस पक्षी का वध नहीं किया जाएगा, तब तक उस दैत्य या दानव विशेष को किसी तरह न भी मिटाया नहीं जा सकता। यही बात जाति-विशेष के जीवन पर भी लागू होती है। जाति-विशेष का जीवन भी किसी बिन्दु में केन्द्रित रहता है। वहीं से ही जाति को जीवन रस मिलता है। यदि भारतीय जातियों में अर्थात् हिन्दू जाति में यह केन्द्र विशेष न होता तो यह आज से सदियों पहले ही अपने

अस्तित्व को खो बैठती। इस देश का इतिहास साक्षी है कि देशवासियों ने शताब्दियों तक कितने ही बर्बरतापूर्ण आक्रमणों को सहन किया है और इन सभी भयानक परिस्थितियों में भी शक्ति उसे बचाए हुए है। महत्त्व तो उसी आस्था का ही है। आज हम उसी शक्ति को पहचानना है। आश्चर्य तो यह है कि भारत के बाहर के लोग भारत की शक्ति को समझने लग गए हैं, परन्तु हमारे देशवासी अभी अपने स्वरूप को नहीं समझ पा रहे हैं।

हिन्दू जाति की उस शक्ति की व्याख्या करते हुए विवेकानन्द जी ने कहा था कि धर्म और हिन्दू ये दोनों शब्द समानार्थी हैं। वेद के पृष्ठों से जो महान स्वर सुनाई देते हैं वे यही हैं कि पराविद्या वही है, जिससे अविनाशी पुरुष की प्राप्ति होती है। यही आस्था ईश्वर के प्रति असीम निष्ठा हमारे धर्म की अनेक शाखाओं का मूल है। यही हमारी जाति का वैशिष्ट्य है और इस पर कोई आघात नहीं कर सकता। बर्बर जातियों ने यहाँ आकर तलवारों और तोपों के बल पर धर्म के नाम पर विचारों का प्रचार किया। पर हमारे मर्म को नहीं छू सके। यही आध्यात्मिकता हमारी सर्वश्रेष्ठ विरासत है, जो आज भी हमारे जीवन और चिंतन का मूल बन कर हमारा मार्गदर्शन कर सकती है।

इसी आध्यात्मिकता का विस्तृत रूप में स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द जी ने अपने एक भाषण में कहा था, 'प्रत्यक्ष अनुभूति को अपने हृदय में स्थान दो, आत्मदर्शी हृदय से आप ही आप प्रेम की धारा फूट पड़ेगी। उससे ऐसे परमपुरुष का स्पर्श प्राप्त होगा, जो स्वयं प्रेमस्वरूप है। बस तभी हमारे सारे साम्प्रदायिक लड़ाई झगड़े दूर होंगे तभी हम हिन्दू शब्द को तथा प्रत्येक हिन्दू नामधारी व्यक्ति को यथार्थ रूप में समझ सकेंगे।

विदेशों में जो भाषण विवेकानन्द जी ने दिए हैं उनमें भी उन्होंने मुख्य रूप में हिन्दू धर्म को स्पष्ट किया है। उन्होंने समझाया कि धर्म मानव के भीतर निहित देवत्व का विकास है धर्म अन्धविश्वास नहीं है। धर्म अलौकिकता में नहीं है। वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है जीवन का स्तर जहाँ हीन है इन्द्रियों का आनन्द वहीं प्रखर है। खाने की प्रक्रिया में जो उत्साह भेड़िए और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य में भोजन के समय नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार सभी देशों के निचले स्तर के

मनुष्य इंद्रियों के आनन्द में उत्साह दिखाते हैं क्योंकि जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार तो विचार और कला ही होती है, दर्शन और विज्ञान होता है और इन सबसे ऊँची चीज है 'आध्यात्मिकता'। इस प्रकार विवेकानन्द जी के विचारों को जिस भी दृष्टि से देखा जाए एक ही बात स्पष्ट होती है कि उन्होंने भारतीयता की उपासना को अपने जीवन का सबसे बड़ा धर्म समझा है और इसी अनुभूत सत्य के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया।

४ जुलाई का दिन इसलिए भी हम भारतीयों के जीवन में एक पावन दिन बन जाता है कि इस दिन वह महान ज्योति अपने प्रकाश से हमारा पथ-प्रशस्त करके उस परमज्योति में विलीन हो गई। यदि हम भारत को आत्महीनता के पंकिल वातावरण से निकालना चाहते हैं और सच्चे अर्थों में भारतीय बनना चाहते हैं, भारत राष्ट्र को स्थायी स्वरूप समझकर उसकी सेवा में संलग्न होना चाहते हैं, तो इससे बड़ा प्रकाश और कहीं नहीं मिलेगा कि हम हिन्दुत्व के सजग प्रहरी विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन, चिन्तन और मनन करके स्वयं इस सत्य का अपने हृदय में अनुभव करें कि हम तुच्छ और हीन नहीं हैं, हम महान हैं, इसलिए महान् हैं कि हम भारत में पैदा हुए हैं और हमारी नसों में भारतीय रक्त है।

गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।

इस श्लोक का स्मरण कर हम गौरवान्वित हों। भारत की भूमि पर हमारा पालन-पोषण हुआ है। अतः अन्य देवी-देवताओं के अर्चन पूजन से निवृत्त हो हम राष्ट्र अर्चना के इस ईश्वरीय कार्य में लग जाएँ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द जी एक सच्चे कर्मयोगी, हिन्दू के सजग प्रहरी एवं राष्ट्र आराधकों में सिरमौर थे।

धन्य है भारत भूमि, जिसने इस शताब्दी में अपनी कोख से इस नर-रत्न को जन्म देकर भारत को देश विदेश में गौरवशाली बनाया।

अरविन्द भारत का गौरव

मुखाग्रे यस्य व वेदा कराग्रे सशर धनु ।
उभयो द्रोण सामथ्य शापादपि शरादपि ।।

क्रांतिकारी एव योगी अरविन्द के जीवन पर उक्त कथन सार्थक होता है—

वे ज्ञानवान थे परन्तु क्रांतिकारी भी, जहाँ उनमे शाप देने का सामर्थ्य था, वहाँ वह सशस्त्र क्रांतिकारी भी रहे थे।

'राष्ट्र के इतिहास मे कभी ऐसा भी अवसर आता है जब ईश्वर की ओर से हमारे समक्ष एक ही उद्देश्य और एक ही कार्य रहता है, उसके सामने शेष सारे कार्यों को, चाहे वे कितने भी उदात्त एव श्रेष्ठ क्यो न हो, परित्याग करना पडता है। हमारी मातृभूमि के लिए अब ऐसा अवसर आ गया है, जबकि उसकी सेवा से बढकर कोई भी वस्तु प्रिय नही नही हो सकती, अब हमारे सारे कार्यों के लक्ष्य मातृ भूमि की सेवा ही होनी चाहिए। आपका अध्ययन, मनन, शरीर, मन और आत्मा का संस्कार सभी कुछ मातृ भूमि के लिए ही होना चाहिए आप काम करो—जिससे मातृ भूमि समृद्ध हो, आप कष्ट उठाओ ताकि मातृभूमि सबको खुशियाँ दे सके बस इतनी ही मेरी आपको सलाह है। आज से कई वर्ष पूर्व नेशनल कॉलेज मे अपने छात्रो को सम्बोधित करते हुए श्री अरविन्द ने कहा था कि हमारा मन और शरीर मातृ भूमि की समृद्धि के लिए अर्पित होना चाहिए। यह विषय आज भी उतना ही मनन एव चिन्तन के योग्य है, जितना उस समय था। राष्ट्र की तरुण पीढी को पाश्चात्य अन्धानुकरण

से मुक्त कर देश के लाखों निरन्न और निवस्त्र लोगों की सेवा की ओर उन्मुख करने की यह एक बलवती प्रेरणा थी, जिसके संकेत पर देश के कोने-कोने से तरुणों ने अपने अध्ययन एवं महत्त्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देकर सिर पर कफन बांधते हुए विदेशी सत्ता से लोहा लेने का व्रत लिया था।

आज प्रसंग बदल गया है, हम स्वाधीनता प्राप्त हो गई है, हम विदेशी शासन से मुक्त हो चुके हैं, परन्तु विद्यार्थियों के मध्य कहे गए अरविन्द के वचन स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के लिए आज भी उतने ही प्रेरणाप्रद हैं, जितने उस समय थे। प्राध्यापक अरविन्द अभी योगी तो नहीं बने थे, परन्तु अपनी अन्तर्दृष्टि से उन्होंने भारत के भविष्य का रूप देख लिया था। स्वतन्त्र भारत के जिस रूप की संकल्पना उन्होंने की थी। सम्भवतः वह इतना लक्ष्य विहीन और परिभ्रान्त नहीं था, जितना आज लग रहा है। उनके शब्दों में ही यदि उनके आदर्श की व्याख्या की जाए, तो वह कहते थे, "मेरा हर काम अपने लिए न होकर देश के लिए ही है, मेरा हित एवं मेरे परिवार का हित देश-हित में ही निहित है।

हम भारतवासियों को विशेष रूप से नयी पीढ़ी के युवकों को, इस भावना को आत्मसात करने की आवश्यकता है। श्री अरविन्द ने हमें जिस सत्य के दर्शन कराए थे, वह हमारे लिए एक शाश्वत प्रकाश है, जिससे हम भारत के निर्माण की ओर भारतवासियों की भौतिक एवं आत्मिक प्रगति की दिशा निर्धारित कर सकते हैं। 5 दिसम्बर वह पुण्य तिथि है जिस दिन वह महान् प्रकाश पुंज इस पार्थिव शरीर को छोड़कर अनन्त प्रकाश में लीन हुआ था।

अगस्त मास भारत के इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसी मास में इस देश में अनेक प्रतिभाओं ने जन्म लिया और इसी मास में ही कतिपय महती प्रतिभाएं हमसे जुदा हो गई। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' भी इसी मास में आरम्भ हुआ था और हमने स्वाधीनता की प्रात भी इसी मास में देखी थी। १५ अगस्त, १८७२ को बंगाल के एक घोष परिवार में श्री अरविन्द का जन्म हुआ। यह भी एक विचित्र संयोग है कि इस देश की महती विभूति स्वामी रामकृष्ण परमहंस का

देहावसान भी १५ अगस्त को ही हुआ था। श्री अरविन्द के पिता श्रीकृष्णधन घोष स्वयं पाश्चात्य संस्कृति वेश भूषा आदि के रंग में रंगे थे। अत बच्चो को भी उसी रंग म रगने की उनकी महती आकांक्षा थी। इसलिए श्री अरविन्द एव उसके दो अन्य भाइयो को भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने के लिए छोटी अवस्था म ही विलायत भेज दिया। श्री अरविन्द के पिता जहा पाश्चात्य जीवन-पद्धति से प्रभावित थे, वहा उनकी माता और विशेष रूप से उनके नाना श्री राजनारायण जी भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा एव आस्था रखते थे। पूर्व और पश्चिम के ये दोनो संस्कार उन्हें विरासत म मिले। इन दोनो का प्रभाव श्री अरविन्द के भावी जीवन पर पडा। पाश्चात्य सभ्यता के समर्थक होते हुए भी अरविन्द के पिता दरिद्र-नारायण के प्रति अत्यन्त सदभाव रखते थे। दरिद्रो और पीडितो के प्रति उनकी सहज सहानुभूति एव अत्यधिक उदारता परिवार के लोगो के लिए समस्या बन जाती थी और विलायत म अध्ययनार्थ गए बच्चो के लिए अनेक बार आर्थिक कठिनाइयाँ प्रस्तुत कर देती थी। पर स्वभाव तो दुरतिक्रम है उसे सरलता से कैसे बदला जा सकता है ? परिवार के सदस्य इस बात को भलीभाति जान गए थ, अत इस प्रकार के कष्टों को सहना उनके लिए सामान्य अभ्यास बन गया था।

इंग्लैण्ड मे अध्ययनार्थ गए हुए श्री अरविन्द ने १७ वर्ष की अवस्था मे ही यूरोप की प्रमुख भाषाए—ग्रीक, लैटिन, फ्रेन्च, जर्मन इटली आदि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया। उनकी भाषा शिक्षण की अद्भुत प्रतिभा से उनके अध्यापक भी कभी कभी चकित एव हतप्रभ रह जाते थे और अरविन्द का शिक्षक होने म गौरव अनुभव करते थे। मेधावी छात्र किसे प्यारा नही लगता ? १८९० म वह आई० सी० एस० की परीक्षा म उत्तम श्रेणी म उत्तीर्ण हुए, परन्तु घुडसवारी की प्रतियोगिता म शामिल न होने पर उन्हें असफल घोषित कर दिया गया। उनका आई० सी० एस० म अनुत्तीर्ण रहना देश के लिए वरदान सिद्ध हुआ। यदि उन्होंने भी अपने अन्य भाइयो की तरह आई०सी० एस० पास किया होता, तो व भी उनकी तरह किसी सरकारी पद की शोभा बढ़ाते। ईश्वर की इच्छा कुछ और थी—अरविन्द को विदेश म ही पिता के द्वारा भेजे गए पत्रो म अंग्रेजो

द्वारा भारतीयो पर किए जा रहे अत्याचारो की जानकारी मिलती रहती थी, इससे उनका मन बहुत ही व्याकुल रहने लगा। मन की व्याकुलता और विक्षोभ का प्रकटीकरण उन्होने वहा पर आयोजित होने वाली कतिपय सभाओ मे किया था। वहाँ महाराजा बडौदा मे उनकी भेंट हुई और उनकी योग्यता से प्रभावित होकर महाराजा उन्हे बडौदा राज्य की सेवा मे लेना चाहते थे। अरविन्द जैसे महान प्रतिभावान एव मेधावी व्यक्ति बडौदा राज्य के लिए ही नही, अपितु समस्त भारत के लिए महान वरदान बन सकते थे। उन्होने महाराजा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

१८९३ मे श्री अरविन्द इग्लैण्ड से जलयान द्वारा भारत की ओर चल पडे, उन दिनो अभी वायुयान की यात्रा आरम्भ नही हुई थी। यातायात जलमार्ग से ही होता था। अभी यह मार्ग मे ही थे कि उनके पिता का भारत मे देहान्त हो गया। यह घटना इस प्रकार घटी कि उन दिनो इग्लैण्ड से भारत आता हुआ एक जहाज डूब गया था। किसी ने उनके पिता को कह दिया कि जो जहाज डूबा है अरविन्द उसी मे था। पुत्र की मृत्यु सुनकर पिता के प्राण पखेरू उड गए, जबकि अरविन्द डूबने वाले जहाज मे नहीं थे, वह तो दूसरे जहाज मे थे। जब अरविन्द अपने भाइयो के साथ यथासमय भारत आए, तो पिता का देहान्त सुनकर इन्हें अपार कष्ट हुआ।

भारत मे लौटकर इनके दो भाइयो ने तो सरकारी सेवा स्वीकार कर ली, परन्तु श्री अरविन्द बडौदा राज्य की प्रशासनिक सेवा मे आ गए। कुछ वर्ष बाद ही इन्होने एक कालेज मे अध्यापन-कार्य आरम्भ किया, जहाँ बाद मे वे उपप्रधानाचार्य भी हो गए। बडौदा मे रहते हुए उन्होने आध्यात्मिक साधना भी आरम्भ की। यही उनके मन मे मातृ-धर्म के आध्यात्मिक सस्कारो का उदय होने लगा। विदेश मे रहने के कारण वे अभी तक भारतीय भाषाओ से अपरिचित थे। विदेशी भाषा के माध्यम मे भारतीय-दर्शन को पढने और समझने की बात उन्हे अच्छी नही लगी, अत उन्होंने मराठी, गुजराती और सस्कृत का अध्ययन आरम्भ किया। उन दिनो भारतीय अध्यात्मवाद एव युग-साधना की महती विभूति

स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द को समझने का भी उन्हें अवसर मिला। परमहंस के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा होने लगी तो विवेकानन्द के प्रति गहरा सम्मान। आध्यात्मिक साधना के इन आरम्भिक दिनों में उस युग को वे पलायन समझने लग गए थे, परन्तु आगे चलकर उनकी यह धारणा परिवर्तित हो गई। भारतीय जीवन-दर्शन एवं आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन मनन से उनकी सनातन धर्म पर भी महती श्रद्धा होने लगी। यहीं बड़ौदा में ही इनका विवाह भूपालचन्द्र बसु की रूपवती कल्याणी कन्या मृणालिनीदेवी से हुआ। यह विवाह सनातन धर्म की रीति से ही हुआ। यहां श्री अरविन्द को यद्यपि सभी प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध थीं, तो भी जीवन की कृत्रिम चकाचौंध से वे बहुत दूर थे। वस्तुतः ये वे दिन थे जब अरविन्द का मन गीता में वर्णित कर्मयोग की ओर अग्रसर हो रहा था, यह बात उन्होंने पत्नी के नाम लिखे अपने पत्र में स्पष्ट रूप से व्यक्त की थी, इन्होंने उस पत्र में इन तीन बातों पर विशेष जोर दिया था—

(१) ईश्वर ने गुण, प्रतिभा, विद्या आदि के कारण मुझे जो धन दिया है, परिवार के भरण-पोषण पर लगने वाले धन के अतिरिक्त शेष पर मेरा अधिकार नहीं है। धन को विलास के लिए खर्च करना एक प्रकार से चोरी होगी। वह धन असहायों और जरूरतमन्दों के लिए है, उनके इस कथन के पीछे ईशावास्य उपनिषद का यह मन्त्र था—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंचित् जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(२) हम सब लोग बात-बात में भगवान का नाम लेते हैं, मेरा दृढ़ संकल्प है कि मैं उसका साक्षात दर्शन करना चाहता हूं। हिन्दू धर्म में उस भगवान के बारे में जो बात कही है वह झूठी नहीं हो सकती। मैं उसकी उपलब्धि के लिए यत्नशील हूं, मैं चाहता हूं तुम भी उसी पथ पर मेरे साथ आओ।

(३) तुम लोग जड़ पदार्थ, मदान, खेत, वन-पर्वत आदि को ही स्वदेश कहते हो, परन्तु मैं इसे "मां" कहता हूं। इस पतित जाति का उद्धार करने

का बल मेरे अन्दर है, यह बल शारीरिक नही, अपितु ज्ञान का बल है। राष्ट्र के लिए क्षात्र तेज एकमात्र बल नही है, ब्राह्म तेज भी है, उसकी प्राप्ति मेरे जीवन का ध्येय है।

इन बातो से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द अब स्वय को राष्ट्र के लिए अर्पित कर चुके थे, परन्तु उनकी यह राष्ट्र-आराधना केवल भौतिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी थी। यह पत्र वस्तुत उनके जीवन के भावी कार्यक्रम की ओर इंगित करता है। इस प्रकार के दो पत्र उन्होंने और भी अपनी पत्नी के नाम जीवन म लिखे थे। उन पत्रो का भी एक एतिहासिक महत्व है। सूरत काग्रेस के लिए प्रस्थान करने से पूर्व राष्ट्र-कार्य की व्यस्तता का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा था कि इस कार्यक्रम मे व्यस्त रहने के कारण उनका घर की ओर आना सम्भव नही है, वैसे भी मैं परिवार और स्वजनो के सुख को जीवन का आधार नही बना सकता। मेरे निर्दिष्ट कार्यों की सफलता को सुख मानना ही तुम्हारे लिए एकमात्र उपाय है, आदि-आदि। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर उन्होने अपने घर पर न पहुँच सकने के सम्बन्ध मे एक पत्र लिखा था कि मेरे सभी कार्यों के पीछे ईश्वर का ही हाथ है। उनके सभी कार्य भगवान के आदेश पर ही हो रहे है, स्वय वह कुछ भी नही करेंगे। जो कुछ भी वह कर रहे हैं वह भगवत सकल्प ही है। श्री अरविन्द के इन तीनो पत्रो म क्रमश उनके जीवन-दर्शन का विकास लक्षित होता है, जो भारतीय ऋषि-जीवन प्रणाली की एक महान देन है।

यशस्वी अध्यापक

श्री अरविन्द बडौदा मे ही प्रशासक से अध्यापक बने थे। यही अध्यापन काल मे ही उन्होने विदेशी शासको द्वारा भारतीयो पर किए जाने वाले अत्याचारो की मर्मान्तक पीडा का अनुभव किया था। फलत यहाँ से नौकरी छोडकर वे कलकत्ता मे जाकर नेशनल कालेज मे अध्यापक बने। उन दिनों कलकत्ता भारतीय राजनीतिक गतिविधियो की एकमात्र धुरी थी। कलकत्ता का जीवन इन दिनो बहुत ही कटकाकीर्ण था, परन्तु इस मार्ग का वरण भी तो अरविन्द ने स्वय ही किया था। बडौदा मे उन्हे ७०० रुपए मासिक

मिलते थे, जबकि कलकत्ता में केवल ७० रुपये मासिक पर वह गए मातृभूमि की आराधना की कसक जिसके मन में हो, उसके लिए भला ७०० रुपए का क्या महत्त्व होगा? वह तो एक महान क्रान्तिकारी था। कलकत्ता जाने का तो यह अवसर ही ढूंढ रहे थे, उनके लिए धन बस्तु ही गौण थे। इसलिए बड़ौदा-नरेश के अनेक बुलावे आने पर भी वह वापिस वहाँ नहीं गए। स्वयं अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि "जिसमें त्याग की मात्रा जितने अंश में हो वह व्यक्ति उतने ही अंश में पशुत्व से ऊपर है।"

अरविन्द जब कलकत्ता पहुँचे तो उन्हीं दिनों देश के प्रतिष्ठित महापुरुष रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहनराय आदि लोग भारत में तीव्र गति से फैलने वाली पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध को रोकने का भागीरथ प्रयत्न कर रहे थे। असंख्य तरुणों के प्रेरणा स्रोत कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी सरीखे प्रतिष्ठित लेखक के गुरु श्री अरविन्द सारे देश में तरुण छात्रों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बने हुए थे। उनसे अध्ययन करने वाले असंख्य युवक बाद में क्रांतिकारी बनकर फिरंगी को इस देश से निकालने के लिए प्राणपण से जूझने लगे। भारत माता के कष्टों को दूर करने के लिए जब उन्होंने अध्यापन का कार्य छोड़ा, उस समय असंख्य छात्रों की महती सभा में दिया गया उनका भाषण उनके छात्रों के लिए वस्तुतः एक दीक्षान्त भाषण ही सिद्ध हुआ। उनके भाषण का मूल मन्त्र था—"पढ़ो, लिखो, कर्म करो, आगे बढ़ो, कष्ट सहन करो, एक मात्र मातृभूमि के लिए, माँ की सेवा के लिए। उनके इन शब्दों ने युवकों के अन्दर विद्युत प्रकाश का काम किया और वे देशभक्ति के उन्माद में अपने प्राण विसर्जन करने के लिए पागल हो उठे।

एक सफल पत्रकार

श्री अरविन्द ने अपनी पत्रकारिता द्वारा लक्षावधि भारतीयों को "राष्ट्र देवोभव' का महान मन्त्र दिया। वे तत्काल भारतीय राजनीति में "गरम दल" के पक्षपाती थे। उन दिनों भारतीय राजनीति के क्षितिज की देदीप्यमान लाल-बाल और पाल की त्रिमूर्ति उन्हें बहुत ही प्रिय थी। इन्दु प्रकाश, वन्देमातरम्, युगान्तर आदि पत्रों के माध्यम से उन्होंने

स्वदेशी आन्दोलन एवं बंग भंग में बहुत ही उत्तेजक एवं प्रेरणादायक लेख लिखे। वे स्वराज्य की भीख नहीं चाहते थे। वे तो उसे बाहुबल से ही उपार्जित करने में विश्वास रखते थे। उन्हीं के लेखों का परिणाम निकला कि सारे देश में लोग स्वदेशी आन्दोलन के लिए सिर पर कफन बांध कर घरों से निकल पड़े। इन्हीं पत्रों में प्रकाशित सामग्री के आधार पर ही इन्हें सरकारी कोप का भाजन बनना पड़ा, परन्तु इस प्रकार के अवरोध इनकी कार्यक्षमता को तीव्र से तीव्रतर ही करते गए।

स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी

श्री अरविन्द ने केवल दूसरों को ही प्रेरणा नहीं दी, अपितु स्वयं भी स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों की अग्रिम पंक्ति में खड़े हुए। वे देश की स्वाधीनता के लिए हिंसा को बुरा नहीं समझते थे—"मनसा वाचा कर्मणा" वे राष्ट्र को समर्पित थे, इसलिए भाषण, लेखन और कर्तव्य निर्वाह आदि सभी दृष्टियों में वे इस संग्राम को जीतना चाहते थे। इसलिए नेशनलिस्ट पार्टी के संगठन को भी उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। सूरत कांग्रेस के अधिवेशन पूर्व बंगाल के मिदनापुर में होने वाले अधिवेशन में ही उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के पांच सूत्री कार्यक्रम को पास कराकर तरुणों का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। स्वदेशी आन्दोलन का पांच सूत्री कार्यक्रम था—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, अंग्रेजी शिक्षालयों का बहिष्कार, कचहरियों का बहिष्कार, स्वयंसेवकों का संगठन और पंचायत-स्थापना। तत्पश्चात् सूरत कांग्रेस में नेतृत्व के अन्दर जो निर्णायक संघर्ष हुआ, उस समय श्री अरविन्द श्रीतिलक के साथ थे। सूरत अधिवेशन में "गरमदल" की विचारधारा की विजय के पश्चात् इन्होंने बम्बई, बड़ौदा, पूना एवं मध्य भारत के कई नगरों में सहस्रावधि भारतीयों के सम्मुख अपनी मन्त्र मुग्ध करने वाली भाषण शैली के द्वारा 'राष्ट्र की स्वाधीनता ही सर्वोपरि है' का ऐसा शंखनाद फूंकने में महती सफलता प्राप्त की। राजनीति में सक्रिय प्रवेश के कारण इन्हें झूठे आरोप लगाकर अलीपुर जेल भेजा गया। इस गिरफ्तारी ने क्रान्तिकारी अरविन्द को योगी अरविन्द बनाने का अवसर

दिया। गीता के कर्मयोग ने इन्हें नए मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी।

योगी अरविन्द अलीपुर जेल में

अलीपुर जेल से बाहर आने के बाद अरविन्द ने सोचा राष्ट्र को क्षात्र तेज के साथ ब्राह्म तेज की भी आवश्यकता है। वह सम्भवतः महाभारत के इस कथन को सार्थक करना चाहते थे—

> "मुखाग्रे यस्य च वेदाः कराग्रे सशरं धनुः ।
> उभयो द्रोण सामर्थ्यं शापादपि शरादपि ॥

उन्हीं दिनों अंग्रेजों ने फिर दमनचक्र चलाया। अरविन्द ने इस पर कहा "दमन भगवान के हाथ का हथौड़ा है जो हमें सही साँचे में ढालने के लिए चल रहा है। हथौड़ा इसलिए चल रहा है कि हम महान् राष्ट्र के रूप में भगवत श्रम के लिए भगवान के हाथ का एक सुदृढ़ यन्त्र बन सकें, हमारे ऊपर पड़ने वाली यह चोटें हमें समाप्त नहीं करेंगी, अपितु नव जीवन प्रदान करेंगी, क्योंकि कष्ट के बिना विकास नहीं होता।" उन दिनों नेशनलिस्ट पार्टी छिन्न भिन्न हो गयी थी, सर्वत्र क्लेश का ही वातावरण था। अरविन्द ने "योगः कर्मसु कौशलम्" गीता के इस आदर्श वाक्य को अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया। अब वे भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने लगे। यहाँ "कर्मयोगी" पत्र द्वारा उन्होंने समाज एवं राष्ट्र के बाह्य एवं अन्तर स्वरूप को अद्भुत करने के लिए राजनीतिक एवं आध्यात्मिक विचार का प्रतिपादन किया। ब्रिटिश पुलिस उनके पीछे लग गयी, फलतः ४ अप्रैल, १९१० को वे ब्रिटिश इण्डिया छोड़कर पाण्डिचेरी पहुँचे। वहाँ रहते हुए भी उन्होंने देशवासियों को अपने प्रेरक लेखों द्वारा कर्तव्य-कर्म की महती प्रेरणा प्रदान की। भारत से कुछ नेता उन्हें वापस भारत में लिवाने के लिए गए थे, परन्तु उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। वे अब राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी चाहते थे। क्षात्र-तेज के साथ-साथ ब्राह्म तेज की आराधना उनका लक्ष्य बन गया, इसलिए राजनीति से संन्यास लेकर वे योग-साधना में तल्लीन हो गए। क्रमशः अन्तर्मुखी बनकर वे वहाँ पर मौन

साधना मे लगे रहे और इसी बीच उपनिषद एव दार्शनिक चिन्तन से सम्बद्ध रचनाओ के अतिरिक्त आध्यात्मिक गतिविधियो का भी उन्होने प्रकाशन कराया। क्रमश आध्यात्मिक सिद्धातो मे सफलता पाते-पाते वे योग की चरम सिद्धियो मे लिप्त रहने लगे। तब एक ऐसा समय भी आया जब उनका निवास-स्थान एक विशाल आश्रम के रूप मे परिवर्तित हो गया, जहा ससार की स्वार्थ की दावाग्नि से दग्ध प्राणी निज का त्राण पाने के लिए पहुँचने लगे। लगभग ४० वर्ष तक पाडिचेरी के आश्रम मे महती यौगिक सिद्धिया प्राप्त करने के पश्चात योगी अरविन्द ने ५ दिसम्बर १९५० को चिर-समाधि ले ली।

इस प्रकार वह महान आत्मा जिसने प्रशासक एव अध्यापक के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया था, अपनी वाणी, लेखनी एव कर्मण्यता के माध्यम से मातृभूमि के बन्धन काटने के लिए अद्वितीय योगदान देते रहे। भारतीय परम्परा मे वर्णित ऋषियो के पद चिह्नो पर चलकर अन्तत योग-साधना द्वारा अभीष्ट आध्यात्मिक उपलब्धियो को प्राप्त कर ब्रह्म मे विलीन हो गए, परन्तु वे लक्षावधि लोगो को प्रेरणा देने वाले उस तेज-पुज के ये शब्द आज भी हमे "राष्ट्र देवो भव" की महती प्रेरणा दे रहे हैं। "अतीत मे गौरव बुद्धि, वर्तमान मे कष्टवरण, भविष्य के लिए अमोघ सकल्प—ये हैं देशभक्ति रूपी वृक्ष की मूल शाखाए। आत्मत्याग, आत्म-विसर्जन महती सेवा, देश के लिए महती से महती सहिष्णुता, ये है उसके फल। जो रस इस वृक्ष को जीवित रखता है, वह है भगवान का मातृभूमि मे दर्शन, मातृदर्शन और उस "माँ" का निरन्तर चिन्तन, ध्यान, पूजन और सेवा।"

डा० केशवराव बलिराम हेडगेवार

"काय वा साधयेय देह वा पातयेयम"
(काय सिद्धि के लिए मैं अपने प्राणों की भी बलि चढा दूगा।)

विश्व का इतिहास साक्षी है कि इतिहास के धारा प्रवाह मे युगानुकूल परिस्थितियो से समझौता करके अनेकानेक महापुरुषो ने अपने कायकलापो मे भी पर्याप्त ख्याति अजित की है। उनके कार्यों का स्मरण कर उनके अनुयाइयो ने भी उन्हे चिरकाल तक जीवित रखने का भरसक प्रयास किया है। इतिहास मे ऐसे महापुरुषो के चरितगान यत्र तत्र उपलब्ध है, परन्तु अपने समय की विपरीत परिस्थितियो मे भी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए कृत सकल्प व्यक्तित्व सदियो बाद ही धरती पर अवतरित होते है। ऐसे निष्ठावान व्यक्ति अपने दृढ-सकल्प के बल से इतिहास की विपरीत धारा को अपने अनुकूल कर इतिहास मे अपनी अमिट छाप छोड जाते है और उनका महत और उद्देश्यपूर्ण व्यक्तित्व तात्कालिक और परवर्ती पीढी पर अपनी अमिट छाप छोड जाता है। उनका महान आदर्श व्यक्तित्व प्रकाश स्तम्भ बन कर अपने समय मे और आने वाली पीढियों का पथ प्रदशक बन जाता है। ऐसा महान व्यक्तित्व था डॉ० केशवराव बलिराम हेडगेवार का जिनका जन्म अब से ठीक १०० वर्ष पूर्व एक अप्रैल १८८९ को नागपुर निवासी प० बलिराम पंत हेडगेवार के घर मे हुआ था।

केशव राव मे बाल्यकाल से ही वीरता, निडरता, स्वदेश प्रेम आदि गुणो का बीजारोपण हो गया था। ये गुण उन्हे पारिवारिक सस्कार के रूप मे प्राप्त हुए थे। फलत वह वीरो, भक्तो, देशभक्तो और सत-महात्माओ से सबद्ध आख्यानो को चाव से सुनकर उन्हे पुन पुन स्मरण करने मे ही स्वय को धन्य मानता था। उनके इन गुणो का विकास उनकी अनेक विध बाल सुलभ चेष्टाओ अथवा कार्यों मे देखा जा सकता है। स्कूल मे पढते हुए उन्होने महारानी विक्टोरिया के राज्य की साठ वी वर्षगाठ पर बाटी गई मिठाई को खाने से मना कर दिया। उनका कहना था कि यह हमारी महारानी नही है। देश को गुलाम करने वाली महारानी की वर्षगाठ की मिठाई को इन्होने फेंक दिया। उसे खाना पाप बताया। देशभक्ति और निष्ठा का यह अकुर भविष्य मे एक विशाल वट वृक्ष के रूप मे परिणत हुआ, जिसकी शाखा प्रशाखाओ ने देश भर के युवाओ को अपनी विशाल छाया मे लाकर देशप्रेम के अनगिनत बीजो को सम्पूर्ण भारत मे फैलाकर हिन्दुत्व की चितन धारा को सुदृढ एव व्यापक आधार प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

इसी प्रकार नागपुर के सीतावर्डी किले पर फहराने वाले विदेशी ध्वज को उतार कर वहाँ भगवा ध्वज लहराना, देशभक्ति पूर्ण कथाओ की चर्चा कर मित्र मडली को प्रेरणा देना, अग्रेज शासको और उनके चाटुकारो के समक्ष 'वन्दे मातरम' का जय घोष कर अपनी निर्भीकता और निडरता का परिचय देना आदि आदि बाल सुलभ चेष्टाए थी, जो केशव के महान व्यक्तित्व, प्रखर राष्ट्र भक्ति और स्वत्व के लिए सतत परायण होने का सकेत दे रही थी। सच भी है "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"।

धीरे-धीरे केशव मे व्यक्तित्व का विकास होने लगा और उनके मन का भाव उनके कर्मों और वाणी द्वारा अभिव्यक्त होने लगा। जब वह नीलसिटी हाई स्कूल नागपुर मे पढते थे तो वहाँ एक दिन शाला निरीक्षक शाला का निरीक्षण करने आया। केशव ने इस अवसर को अपना विरोध जताने का सुअवसर माना। उसने सहपाठियो का सहयोग लेते हुए स्कूल मे प्रतिबन्धित वन्देमातरम् का जयघोष किया। इससे नाराज होकर निरीक्षक ने अध्यापक को बहुत प्रताडित किया। फलत केशव को विद्यालय से

निकाल दिया गया। इस तरह उनका विद्रोही व्यक्तित्व छात्र-वर्ग और समाज के सामने प्रकट हुआ।

समाज-सेवा मे समर्पित

नील सिटी स्कूल से निष्कासित किए जाने के बाद इन्होंने अन्यत्र प्रवेश लेकर वहां से दसवीं की परीक्षा अच्छे अंकों में पास की। डा० मुंजे के परामर्श से डाक्टर बनने के लिए केशवराव कलकत्ता चले गये। वहां अध्ययन करते समय इनका सम्पर्क देश के लिए समर्पित अनेक क्रान्तिकारियों से हुआ। वे वहां की राजनीतिक, सामाजिक एवं क्रान्तिकारी गतिविधियों में बढ़ चढ़ कर भाग लेने लगे। उन दिनों कलकत्ता क्रान्तिकारियों एवं राजनीतिक गतिविधि का केन्द्र बना हुआ था। लोगों को सबक सिखाने तथा क्रान्तिकारियों के मनोबल को तोड़ने के लिए अंग्रेजी सरकार ने जानबूझकर कर बंगाल में और विशेषतः कलकत्ता में दुर्भिक्ष की भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में हजारों लोग दाने-दाने को मुहताज बन कर मौत का शिकार होने लगे। सरकार की उदासीनता से स्थिति निरन्तर बिगड़ती गयी। भुखमरी, महामारी के साथ-साथ उन दिनों दामोदर नदी में जो प्रलयकारी बाढ़ आयी उससे स्थिति और भी भयावह बन गयी। युवा केशवराव ने अपने साथियों की सहायता से इन तीनों विपदाओं का सामना करने में और लोगों की सेवा सहायता में बढ़ चढ़ कर भाग लिया। इससे जहां उन्हें लोगों की सहायता करने में आत्म संतोष मिला वहीं अंग्रेजी सरकार के प्रति उनके मन में घृणा का भाव और भी तीव्र हो गया और उन्होंने संकल्प किया कि विदेशी सत्ता को यथाशीघ्र यहां से उखाड़ा जाए, अन्यथा इस प्रकार की मानव निर्मित विपत्तियों से छुटकारा नहीं पाया जा सकेगा। केशवराव ने मैडिकल परीक्षा में उत्तम अंक पाए और उनका चयन रंगून के लिये किया गया (उन दिनों बर्मा भारत का ही अंग था और रंगून वहां की राजधानी थी।) इनकी सफलता और चयन से प्रसन्न होकर प्रिंसिपल ने इन्हें बुलाकर बधाई दी और इस सुअवसर का लाभ उठाने की प्रेरणा दी। डा० केशवराव ने प्रिंसिपल साहब को उत्तर दिया कि वह नौकरी नहीं

करेंगे, क्योंकि उन्होने अपना जीवन मातृभूमि की सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। प्रिंसिपल को क्या पता था यह डाक्टर व्यक्ति की नही अपितु सम्पूर्ण हिन्दू समाज के रोगो के निदान का संकल्प कर चुका है। इसे व्यक्तिगत प्रक्टिस कर अपनी तिजोरी नही भरनी। इसे तो सम्पूर्ण समाज की चिकित्सा कर अपने मातृभूमि के ऋण से उऋण होना है। ईश्वर इन से ऐसा महान कार्य कराना चाहते हैं, जिसकी प्रतीक्षा उसे अनेक वर्षो से थी। डा० केशवराव जब कलकत्ता से लौटे तो निर्धन परिवार को भी लगा कि यह डाक्टर परिवार को विपन्न स्थिति से उबारने मे सहायक होगा, परन्तु उसकी आशा तब निराशा मे बदल गयी जब डाक्टर साहब ने परिवार जनो को बताया कि अब वह समाज और राष्ट्र-सेवा के पुनीत कार्य को करते हुए मातृभूमि और समाज का ऋण चुकाने का संकल्प ले चुके हैं। अब वह यावत् जीवन समाज और राष्ट्र के ही लिए समर्पित रहेंगे। "कार्य व साधयामि देह व पातयामि।" उन दिनो देश मे देश भक्ति का आन्दोलन निरंतर प्रखर हो रहा था। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय, महात्मा गाधी, सुभाषचन्द्र बोस, वीर सावरकर, श्यामाप्रसाद मुखर्जी प्रभृति देश भक्त तथा क्रान्तिकारियो मे अग्रणी भगतसिंह, राजगुरु सरीखे युवा एव अनेकानेक गुप्त सगठन अपनी-अपनी क्षमता एव कार्य-पद्धति द्वारा विदेशी दासता की कडियो को तोडने मे यत्नशील थे। डॉ० केशव राव का सम्बन्ध कलकत्ता मे ही इनमे से अनेक से हो गया था। नागपुर मे लौटकर उन्होने लोकमान्य तिलक से प्रेरणा लेते हुए अपने आचरण, व्यवहार और विचारो से उपयुक्त व्यक्तियो और सगठनो को पूर्णत प्रभावित करना भी शुरू कर दिया।

डॉ० हेडगेवार ने अनेक वर्षो तक कांग्रेस मे सक्रिय रह कर राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनो मे भाग लिया। देश मे भ्रमण कर यत्र-तत्र अग्रेजों के विरुद्ध भाषण भी दिये, फलत उन्हे इन मामलो के कारण जेलयात्रा भी करनी पडी। बताया जाता है कि एक बार अग्रेजो के विरुद्ध भाषण देने पर इन्हे एक अदालत मे पेश किया गया। वहाँ एक अग्रेज जज के समक्ष अपनी सफाई देते हुए इन्होंने जो कहा, वह उस भाषण से भी ज्यादा आपत्तिजनक था जिस पर इनके विरुद्ध केस दायर

किया गया था। इसे सुन अदालत ने इन्हें सजा दी जो अनपेक्षित न था, पर वह तो इसके लिए पहले से ही प्रस्तुत थे।

अनेक वर्षों तक क्रान्तिकारियों और काग्रेस के कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान के बाद डॉ० साहब ने अनुभव किया कि इस देश की स्वाधीनता के लिए सर्वप्रथम हिन्दुओं को सगठित करना होगा। मात्र अन्यवर्गों की चापलूसी या मनुहार से काम सिद्ध न होगा। यदि देश के पिच्चासी प्रतिशत हिन्दू एक मच पर एकत्रित हो जायें और व स्वाधीनता का जयघोष करें तो शेष लोग स्वय उनका साथ देंगे। देश के भीतर विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों में विभक्त हिन्दुओं में एकता, अनुशासन देशभक्ति की भावना लाने के पश्चात ही अन्य वर्गों की मदद ली जा सकती है। उन्होंने देश की सभी व्याधियों का एक मात्र उपचार हिन्दू सगठन को ही माना। यह था उनके अब तक के अनुभव और गहन चिन्तन का आधार, जिससे प्रभावित होकर उन्होंने देश में एक विशाल व्यापक और देश प्रेम से ओत प्रोत हिन्दू सगठन को खड़ा करने का सकल्प किया। इस सकल्प के पीछे जो उनके विचार रहे होंगे, उन्हें प्रसिद्ध पत्रकार श्री रुन्द्रकर ने इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है "हिन्दू इस देश का मुख्य समाज है और वही राष्ट्र है इस विचार की नींव पर डाक्टर हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ की स्थापना की। इसका कारण और भी हो सकता है। हिन्दू यह नाम इस्लाम या ईसाईदूत की तरह नहीं है। वह विदेशियों के द्वारा इस देश में रहने वालों को दिया गया। किन्तु अग्रेज शासकों ने इस देश में जड़ें जमाने के लिए देश के लोगों को मुस्लिम और गैर-मुस्लिम के रूप में सबोधित करना शुरू किया। भारत का बहु सख्यक समाज हिन्दू कहलाया जाता था, तो भी अग्रेजी राज कैसे कायम हुआ ? इसका इतिहास ध्यान से पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्रेजों के मन में एक भय छाया हुआ था। हिन्दू नाम से यहां के लोग सगठित होकर उनके शासन को चुनौती दे सकेंगे। मुझे यह तो ऐसा लगता है कि अग्रेजों के इस भय को ठीक पहचान कर उन्हें चुनौती देने के लिए ही डॉक्टर साहब ने हिन्दू शब्द पर बल देकर राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की नींव डाली। अपने सकल्प को मूर्तरूप देने के लिए १९२५ विजयदशमी के अवसर पर उन्होंने नागपुर में

एक खुले मैदान पर कतिपय समान विचार के १५ सदस्यों की उपस्थिति मे 'राष्ट्रीय स्वयमेवक सघ' की स्थापना की।

जब भी कोई नेता किसी सगठन की स्थापना करता है तो वह पहले उस सस्था का नामकरण करता है। उसका कार्यालय बनाता है, उसके कोष की चिन्ता करता है, उसके सदस्य और समर्थकों की सूची बनाकर उनसे चन्दा लेता है आदि-आदि। डॉ० हेडगेवार का यह सगठन इन व्याधियो से मुक्त था। भगवा ध्वज उनका गुरु था, उससे मिलने वाली प्रेरणा ही उनकी थाती थी। वर्ष मे एक बार उस ध्वज के आगे स्वयसेवको द्वारा समर्पित राशि ही उसका चन्दा था। खेल के मैदान उसके कार्यालय थे। परस्पर मिलन, खेल कूद मे आनन्द लेना एव पारस्परिक परिचय द्वारा निरतर कार्य को बढाते जाना उनका सम्मेलन सदृश कार्य था। ये सब बातें उनके मन म साफ थी जो उन्होंने साथियों को बता दी।

बस, इसी तरह सीधे सादे तरीके से शुरू हुआ सघ का कार्य दिनदुगनी रात चौगुनी उन्नति करने लगा। प्रतिदिन सघ स्थान पर उपस्थित होकर खो-खो, कबड्डी, लाठी सचालन, आसन तथा अन्यान्य स्वदेशी खेलो और सरल व्यायामो द्वारा तथा देशभक्तिपूर्ण गीतो द्वारा जन-जागति का यह अद्वितीय प्रयोग आगे चलकर अन्यान्य प्रान्तो म भी जा पहुचा और देखते-ही देखते इसने विशाल वटवृक्ष का रूप ले लिया। इसी बीच इसे अपनो और परायो की नुक्ताचीनी और आलोचनाओ का शिकार भी होना पड़ा। विदेशी सरकार तो इस सगठन के बढने पर चिंतित थी ही, क्योकि वह डॉ० हेडगेवार के क्रान्तिकारियो से सम्बन्धो तथा कांग्रेस मे रहकर उनके किये गए कार्यों स पूर्णत परिचित थी, परन्तु देश के कितने ही छोटे-बड़े नेताओ और सगठनो को भी 'सघ कार्य विस्तार' और लोकप्रियता अच्छी न लगी और वे सब सघ को समझे बिना बुरा भला कहने लगे। कुछ को तो चिन्ता थी कि सघ उनके प्रभाव को लील जायेगा। वे अपने ही बनाये हुए कारणो से ईर्ष्या करने लगे। इस स्थिति का लाभ उठाकर सरकार ने अनेक बार सघ की गतिविधियों म विघ्न डालने वाले आदेश दिये। केन्द्र के अलावा कई प्रान्तीय सरकारो ने भी सघ के कार्य म बाधा पहुँचाने के आदेश दिये, पर सघ इन सब बाधाओ को पार कर निर्बाध गति से निरतर

आगे बढता रहा। इस सन्दर्भ मे यहा एक घटना का उल्लेख अप्रासगिक न होगा। सन १६३२ मे विजयदशमी के उत्सव पर नागपुर मे १२०० स्वयसेवको ने गणवेश पहन नगर मे पथ सचलन किया। इसका प्रभाव नागपुर एव आस-पास के क्षेत्रो पर पडा। सर्वत्र चर्चित इस पथ-सचलन से अंग्रेजी सरकार को भी चिढ हो गई। फलत १५ दिसम्बर १६३२ को मध्यप्रात के गवर्नर ने एक आदेश द्वारा सरकारी कर्मचारियो के सघ से जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। आगे चलकर यह प्रतिबन्ध स्थानीय बोर्डों और नगरपालिका के कर्मचारियो पर भी लागू किया गया।

इसी प्रकार १६४२ के स्वाधीनता आन्दोलन के आरम्भ होते ही सरकार ने एक गुप्त आदेश द्वारा देश भर मे फौजी कवायद पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यद्यपि इस आदेश मे सघ का नाम न था, तब भी लक्ष्य सघ ही था। इसलिए अपनी कार्य प्रणाली के सम्यक सचालन के लिए सघ ने कवायद मे थोडा-सा परिवर्तन कर लिया। वस्तुस्थिति तो यह है कि अंग्रेज सघ के उद्देश्य से पूर्णत परिचित था। उसे सघ के स्वयसेवको की वह शपथ याद थी जो प्रशिक्षण के समय स्वयसेवक को दिलाई जाती थी। सघ स्वयसेवको की प्रतिज्ञा या शपथ निम्न रूप से थी—

'सर्वशक्तिमान परमेश्वर और अपने पूर्वजो का स्मरण कर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि पवित्र हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति की रक्षा कर हिन्दू राष्ट्र को स्वतन्त्र कराने के लिए मैं राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का घटक बन रहा हूँ। सघ का कार्य मैं प्रामाणिकता, निस्वार्थ बुद्धि, तन, मन और धन से करूँगा और इस व्रत को मैं आजीवन पूरी निष्ठा के साथ निभाऊँगा।

इस प्रतिज्ञा को भलीभाँति समझ कर विदेशी शासन सघ के प्रति सतर्क एव शकालु बना हुआ था। इस प्रतिज्ञा मे यह भी स्पष्ट है कि कांग्रेस के १६२६ के अधिवेशन की स्वाधीनता की घोषणा मे चार वर्ष पूर्व ही सघ ने अपने स्वयसेवको को देश को स्वतन्त्र करने की प्रतिज्ञा करवानी शुरू कर दी थी। इतना ही नही, सघ के स्वयसेवको ने देश के आक्र... म १६४२ के आन्दोलन मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से भरपूर योगदान दिया। था। विशेषत महाराष्ट्र, मध्यप्रात आदि मे तो अनेक स्वयसेवक प्रत्यक्ष इस आन्दोलन मे अग्रणी थे।

इसी प्रकार समाज-सुधार के क्षेत्र मे कायरत सघ काय को देखने की इच्छा से सन् १९३४ मे वर्धा मे लगे सघ के शिविर मे महात्मा गाधी पधारे थे। वहाँ उन्होन स्वयसेवको के अनुशासन को अपनी आखो से देखा। वहाँ एक पक्ति म बैठ कर भोजन करते स्वयसेवको के बीच हरिजन स्वयसेवको को देखकर उन्हे प्रसन्नता हुई कि सघ समाज सुधार का यह महत्त्वपूण काय अपने ढग से कर रहा है। उन्होन सघ काय की भूरि भूरि प्रशसा की।

इसी प्रकार सन् १९३७ दिसम्बर मे नागपुर के शीतकालीन सघ शिविर म स्वातन्त्र्य वीर सावकर ने स्वयसेवको को सम्बोधित करते हुए कहा कि "मैं सघ की वृद्धि की कामना करता हूँ। हिन्दू सगठन का पुनीत काय मैं साकार देख रहा हूँ।" डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने १९४० म डाक्टर साहब से नागपुर मे भेंट कर उन्हे हिन्दू समाज को सगठित करने पर बधाई दी। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सुभाषचन्द्र बोस को हिन्दू सगठन का काय असम्भव लगता था, पर वे डॉक्टर साहब के इस महत्त्वपूण काय से आश्वस्त थे। एक बार वह डॉक्टर साहब से मिलने नागपुर आये पर डाक्टर जी की अस्वस्थता के कारण उनकी बातचीत नही हो पाई, फलत उन्हे मौनदशन कर वापिस जाना पडा।

डाक्टर केशवराव हेडगेवार ने अपने जीवनकाल मे ही नागपुर, विदभ एव सम्पूण महाराष्ट्र के स्वयसेवको को प्रचारक बना कर सम्पूण भारत म भेजा था। उनके जीवनकाल मे ही सघ काय देश के अधिकाश प्रान्तो मे अपना प्रभावी रूप ले चुका था। सघ काय के प्रसार और प्रचार के लिए देश भर का भ्रमण करने एव अहर्निश इस हिन्दू सगठन को प्रखरता प्रदान करने के लिए किये गए परिश्रम के फलस्वरूप डॉक्टर साहब का स्वास्थ्य निरन्तर बिगडता गया। जीवन भर अपने रक्त-स्नेह स प्रदीप्त सघ दीपक से उन्होने असख्यो दीपो को ज्योति प्रदान की। अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने १९४० के नागपुर के सघ शिविर मे उपस्थित रहकर स्वयसेवको को उन्होंने सम्बोधित किया। यह उनका अन्तिम भाषण था। भाषण के अन्त म उन्होने स्वयसेवको से कहा—'क्षमा करें, मैं आपकी तनिक भी सेवा नही कर सका। आज आपके दशन करने आया हूँ।'

सघ के सस्थापक, आद्यसरसघचालक डॉक्टर साहब ने कतिपय प्रमुख

सघ कार्यकर्ताओं के परामर्श से श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया (जो गुरुजी के नाम से विख्यात हुए) और २१ जून १९४० के दिन प्रात ९ बजकर २७ मिनट पर उन्होंने इस ससार से प्रयाण किया। उसी दिन सायकाल हजारो स्वयसेवको और लक्षावधि जनसमूह की उपस्थिति म उनके पार्थिव शरीर को नागपुर के रेशमबाग मे अग्नि दी गई। आज वहाँ उनका स्मारक बना हुआ है जो स्वयसेवको के साथ असख्य दर्शको के लिए प्रेरणास्रोत बना हुआ है।

इस वर्ष (१९८९) डॉ० हेडगेवार जी की देश भर म जन्म शताब्दी मनाई गई। इस अवसर पर भारत के साथ-साथ विश्व भर म हिंदू-सगठनो ने विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन कर उनके कार्य-कलापो की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए उनके द्वारा आरम्भ किये गए कार्यों को आगे बढाने का सकल्प लिया। खेद का विषय है कि भारत सरकार ने उनके सम्मान मे कोई आयोजन नही किया। तब भी जन-जन के प्यारे एव भारतीय सस्कृति के गौरव केशव के हिन्दू सगठन के मर्म की महत्ता को स्वीकार कर उन्हे अपनी सच्ची श्रद्धाजलि अर्पित की।

पण्डित मदनमोहन मालवीय

ओंकार मूल मन्त्राढय पुनर्जन्मदृढाशय ।
गोभक्तो भारत गुरु हिन्दु हिंसन दूषक ॥

जिसका ओंकार मे विश्वास है, जो पुनर्जन्म म विश्वास करता है, जो गोभक्त है, भारत माता ही जिसकी मान बिन्दु है जो व्यर्थ की हिंसा नही करता, वही प्राणी हिन्दू है। अर्थात उपयुक्त पाँच बातो मे विश्वास करने वाले मनुष्य को ही हिन्दू कहते हैं।

"आपको हिन्दू शक्ति को जगाना है, जिसम कोई आप पर हाथ न उठाये, उस शक्ति को जगाना है कि जिससे आप पृथ्वी पर ऊंचा माथा करके इज्जत के साथ चल सकें। इसलिए हिन्दू सगठन की आवश्यकता है। जो माई के सच्चे सपूत हैं, जो सोच सकते हैं, जिनका दिमाग अच्छा है, व एक हो, सगठित हो।"

ये ओजस्वी उद्गार हैं महामना मालवीय जी के, जिन्होन भारतीय काग्रेस के कणधार होन हुए भी देश के उत्थान और सर्वतोमुखी विकास के लिए हिन्दू सगठन की आवश्यकता पर बल दिया और आजीवन इस पवित्र काय के लिए प्रयत्नशील रहे। १९४६ ४७ मे बगाल प्रान्त के नवाखाली म हुए दगो मे हिन्दुओ पर हुए अत्याचारो से उन्हें जो आघात लगा, वह उससे उबर नही पाये। वही आघात उनके प्राणान्त का कारण बना।

स्वनाम धन्य महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का जन्म २२

दिसंबर १८६१ को उत्तर प्रदेश स्थित पुण्य तीर्थ प्रयागराज में श्री ब्रजनाथ व्यास के घर हुआ था। इनकी माता का नाम था मूना देवी। उनका यह परिवार मध्यप्रदेश के मालव क्षेत्र से आकर प्रयागराज में बस गया था। मालव से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें मालवीय कहा जाने लगा। इनका जन्म एक गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ। एक छोटे और कच्चे-पक्के मकान में इन का बहुत बड़ा परिवार रहता था। इनकी आरम्भिक शिक्षा एक संस्कृत पाठशाला में हुई। नौ वर्ष की अवस्था में पिता ने इन्हें बटु (ब्रह्मचारी) की दीक्षा देकर इन्हें सावित्री मंत्र दिया। प्राचीन प्रणाली का अनुसरण करते हुए इनके हाथ में पलाश का दण्ड और कमर में कौपीन और मृग-छाला पहनाई गई। तब कौन जानता था कि यह कौपीन, मृगछाला और दण्डधारी ब्रह्मचारी आगे चलकर देश भर से करोड़ों रुपये एकत्रित कर एक विशाल हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करके देश और विश्व में अपार ख्याति अर्जित कर यशस्वी बनेगा।

बाल्यकाल में धनी परिवारों के बच्चों को स्कूल पढ़ने के लिए जाता देखकर इन्हें भी वहाँ पढ़ने की लालसा होती थी, पर गरीबी में आकंठ डूबे पिता के लिए इन्हें वहाँ भेजना, स्कूल की पुस्तकें तथा वर्दी आदि के लिए राशि जुटा पाना सम्भव न होने से इनकी वह लालसा पूरी न हो सकी। कुछ समय बाद स्कूल में प्रवेश लेकर अन्य-अन्य विषयों के साथ अंग्रेजी पढ़ने की इनकी उत्कंठा को देखकर अंततः पिता ने इन्हें अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था कर ही दी। अवसर मिलते ही इन्होंने अंग्रेजी शब्दोच्चारण एवं सुलेखन में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली। घर में स्थानाभाव के कारण पढ़ाई में होने वाली बाधा को दूर करने के लिए इन्होंने पढ़ाई के लिए समीप के उद्यानों का सहारा लिया। इन्होंने अपने अथक प्रयास से सन् १८८४ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। घर की आर्थिक कठिनाई को सामने रखकर इन्होंने एम० ए० की पढ़ाई बीच में छोड़कर स्थानीय राजकीय विद्यालय में पचास रुपये मासिक पर अध्यापन का कार्य आरम्भ कर दिया। इससे परिवार के भरण-पोषण में यह परम सहायक सिद्ध हुए।

अध्यापक के रूप में कार्य करते हुए इन्होंने अपने समय का पूर्ण सदुपयोग किया। उन दिनों सरकारी कर्मचारियों पर राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की मनाही न थी। फलत मालवीय जी १८८६ में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस की एक बैठक में भाग लेने के लिए जा पहुँचे। उस बैठक ने इनकी जीवनधारा ही बदल दी। तत्पश्चात इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ वकालत की परीक्षा पास की और प्रयाग हाई कोर्ट में वकालत शुरू कर दी। राजनीतिक कार्यों में भाग लेने, गरीबों की मुफ्त वकालत करने एवं समाज के अभावग्रस्तों की सहायता करने के कारण यह एक ऐतिहासिक पुरुष बन गए और इनको 'महामना मालवीय' के नाम से पुकारा जाने लगा। उन दिनों सत्ता के मद में चूर विदेशी शासकों के राजनीतिक आक्रमण के साथ साथ देश पर सांस्कृतिक आक्रमण शुरू करते हुए देश की संस्कृति से खिलवाड़ शुरू कर दिया था। मालवीय जी इससे बहुत व्यथित हुए। इन्होंने भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प लिया जो कुछ वर्षों के इनके अथक प्रयास के फलस्वरूप मूर्त रूप ले सका।

सार्वजनिक जीवन

कलकत्ता की कांग्रेस की बैठक में भाग लेने के बाद इन्होंने सार्वजनिक जीवन में बड़ी ही तीव्र गति से अपना स्थान बना लिया। श्री मालवीय १८९२ ई० में प्रयाग में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष बनाये गए। १९०२ ई० में प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नियुक्त किये गए और उसी वर्ष वायसराय की इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य भी बनाये गए। १९१२ से १९२८ तक आप लगातार केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सक्रिय सदस्य रहे। इसी प्रकार १९०८, तथा १९१८ में आप कांग्रेस पार्टी के सभापति भी रहे। १९३० में विदेशी वस्तु का बहिष्कार आन्दोलन में बरसते पानी में आपने बम्बई में सत्याग्रह कर गिरफ्तारी दी। अमृतसर के जलियांवाला काण्ड और जायरशाही के विरोध में केन्द्रीय कौंसिल की बैठक में आपने लगातार पाँच घण्टे तक भाषण देकर सदस्यों को विस्मित

और स्तब्ध कर दिया। यह भाषण अपने आप म एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। सन १९३१ म गोलमेज कान्फ्रेंस म भाग लेने के लिए आप इग्लण्ड भी गए। १९३८ म काग्रेस पार्लियामेंट्री बोर्ड म साम्प्रदायिक बटवारे की नीति के विरुद्ध आपने काग्रेस छोड दी। काग्रेस छोडने क बाद आपने देश भर म हिन्दू आदर्शों का प्रचार और प्रसार करने का दायित्व अपने ऊपर लिया।

हरिजनो का उद्धार

सन १९३६ म अधकुम्भी के सुअवसर पर इन्होंने हरिद्वार म हर की पौडी पर हजारो हरिजनो को स्वय स्नान कराया और उन्ह 'ओम नम शिवाय' मत्र की दीक्षा भी दी। उस समय पण्डा ने इनका घोर विरोध किया, पर मालवीय जी के तर्कों के आगे उनका विरोध टिक न सका। उन्होने पण्डो से पूछा—यह बताओ कि गगा का जन्म कहा से हुआ? उत्तर मिला विष्णु भगवान के चरणो से। तब इन्होने पूछा कि शूद्रो की उत्पत्ति कहा से हुई? जवाब था कि विष्णु भगवान के चरणो स। तब मालवीय जी ने कहा कि बताओ, दोनो की उत्पत्ति विष्णु के चरणो म हुई है तब उनमें एक तो पतित पावनी है और दूसरा पतित कस? तुम स्नान मैला करो और वह साफ करें तो बताइए पतित कौन हुआ? इस पर पण्डे निरुत्तर हो गए और मालवीय जी के चरणो मे गिर पडे। सवत्र मालवीय जी की जय-जयकार होने लगी। इस तरह मालवीय जी ने अपने हरिजन भाइयो को गगा-स्नान और शिव का मत्र जपने का अधिकार दिलाकर हिन्दू समाज मे वर्षो स चली आ रही बुराई को समाप्त करने का माग प्रशस्त किया। इनके इस काय का ही सुपरिणाम था कि इनके शिष्य गोस्वामी गणेशदत्त ने उत्तरी भारत की सभी सनातन धम सभाओ को हरिजन उद्धार के लिए प्रेरित किया। इससे पूव सनातन धम जगत हरिजनो के प्रति प्राय अनुदार ही था।

हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना

४ फरवरी १९१६ ई० को वसन्त पचमी के शुभ दिन गगा के पावन तट पर एक अविस्मरणीय भव्य समारोह म अनेकानेक राजाओ की

उपस्थिति में भारत के तत्कालिक वायसराय लार्ड हार्डिंग के हाथों से हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ। पाँच हजार से अधिक लोगों ने इस कार्यक्रम में भाग लेकर स्वयं को भाग्यशाली माना। इस पावन अवसर पर मालवीय जी ने विश्वविद्यालय को सहायता देने की जो अपील की थी वह इस प्रकार है—

"मैं प्रत्येक भारतीय प्रिंस और व्यक्ति से अपील करता हूँ कि वह इस राष्ट्रीय विद्या के मन्दिर के निर्माण हेतु अपना सहयोग दें। मुझे आशा है कि वे इस अपील को सार्वजनिक रूप प्रदान कर सहयोग देंगे और विश्वविद्यालय के महत्त्वपूर्ण विकास में मदद करेंगे ताकि यह शीघ्र ही विश्व की उत्तम यूनिवर्सिटियों में स्थान प्राप्त कर और सदा विकसित होती रहे। मुझे विश्वास है कि आपको मातृभूमि तथा विशाल राष्ट्र की सेवा हेतु गौरव होगा, जिनके प्रति यह विश्वास और उद्देश्य पूर्ति की जा रही है।"

महामना मालवीय जी की इस अपील के फलस्वरूप देश भर के राजाओं, धनपतियों, साधारण जनों ने इस विश्वविद्यालय के निर्माण हेतु दिल खोलकर दान दिया। मालवीय जी ने विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए देश भर में भ्रमण कर समाज के सभी वर्गों से दान लिया। इस महत् कार्य के लिए जिस भागीरथ प्रयत्न की आवश्यकता थी उसे पूरा करने की क्षमता मालवीय जी में ही थी। यह एक असाधारण कार्य था। इस संदर्भ में एक रोचक संस्मरण भी है, जिसके उल्लेख के बिना इस विश्वविद्यालय के लिए प्राप्त राशि की चर्चा अधूरी ही रहेगी।

बताया जाता है कि हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए राशि एकत्रित करने के संदर्भ में मालवीय जी हैदराबाद के नवाब के पास भी गये, पर उसने हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए राशि देने से मना कर दिया। उससे मालवीय जी का उत्साह कम नहीं हुआ, अपितु वह और भी तीव्रता से अपने मिशन की पूर्ति के लिए तत्पर रहे। हैदराबाद में रहते हुए मालवीय जी को पता चला कि एक हिन्दू सेठ का निधन हो गया है। वह उसके निधन में सम्मिलित हुए। परिजनों ने सेठ के शव पर पैसों की वर्षा की। मालवीय जी ने शव से गिरे पैसों को चुगना शुरू कर दिया तो शव यात्रा में शामिल लोगों के

आश्चय का ठिकाना न रहा। इस पर मालवीय जी का उत्तर था कि क्या हुआ यदि निजाम हैदराबाद न उन्हें राशि नही दी। इस पैसे को लेकर वह यह तो कह सकेंगे कि हैदराबाद मे खाली हाथ नही लौटे। इस घटना का जब निजाम को पता चला तो वह बडा लज्जित हुआ और उसने मालवीय जी को विश्वविद्यालय के लिए पर्याप्त राशि प्रदान की। कहा जाता है कि देश-भर मे और सभी वर्गों से धन एकत्रित करने के कारण उस समय मालवीय जी को लोगो ने 'भिखारी सम्राट' की उपाधि दे डाली।

हिन्दू विश्वविद्यालय के निर्माण के बाद वहा देश विदेश के हजारो छात्रो को पढाने के लिए सैकडो अध्यापको को नियुक्त किया गया। जहाँ भारत के प्राच्य विद्या के साथ साथ वर्तमान युग के अद्यतन विषयो के अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की गयी। वस्तुत यह विश्वविद्यालय देश भक्तो का एक गढ सा बन गया। जहाँ से पढे हुए छात्रो ने देश विदेश मे भारतीयता और भारतीय संस्कृति के संदेश वाहक का काम कर भगवान मनु के इस कथ्य को साकार रूप दिया। जिसके अनुसार 'इस देश में जन्मे ब्राह्मणो से संसार भर के लोग अपने अपने चरित्र की जानकारी प्राप्त करेंगे'।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन पृथिव्या सर्व मानवा ।।

हिन्दुत्व के आधार स्तम्भ

महामना मालवीय जी कांग्रेस मे रहते हुए भी हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के लिए आजीवन काम करते रहे। हिन्दुओ के संगठन के लिए वह यत्नशील रहे। वह जानते थे कि हिन्दू असंगठित होने के कारण ही गुलाम हुए थे और उनमे अनेक प्रकार की विकृतियाँ भी आ गयी थी। उन्होने हिन्दू समाज की विकृतियों को दूर करने के लिए हरिद्वार मे गंगा के पावन तट पर हरिजनो को 'ओम नम शिवाय' महामंत्र की दीक्षा दी और उन्हे हर की पौडी पर गंगा स्नान कराकर देश भर के पुरोहितो और मठाधीशो का मार्ग दर्शन किया था। उन्हे जब देश मे होने वाले

साम्प्रदायिक दगा म हिन्दुओ की जान माल की हानि का समाचार मिलता तो वह व्यथित होकर हिन्दुओं से अपील करत थ कि व आपसी भेदभाव छोड कर स्वय को सगठित करें। उनका विश्वास था कि हिन्दू-सगठन हो जाने पर देश मे दगे स्वय ब द हो जायेंगे। देश मे हिन्दू जहां असगठित और कम हो जात है, दगे वही पर ही होत है अन्यथा दग हो ही नही सकत।

महामना का सम्पूण जीवन हिन्दुत्व का प्रतीक था। उनका जन्म एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार म हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा प्राचीन भारतीय परम्परा म हुई। हिन्दू रीति नीति, नियमोपनियमो का पालन उन्होने आजीवन किया। गोलमेज कान्फेंस, लदन मे जात समय व अपने साथ इस देश की पुनीत माटी और गगाजल को साथ ले गए। सनातन धम क माध्यम से उन्होने हिन्दू परम्पराओ और सस्कारो का भारतीय सस्कृति की जडो को देश मे सुदृढ आधार दिया।

हिन्दू मान्यताओ—आकार की पूजा, कम के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा, गो रक्षा, पुनजन्म म विश्वास, सस्कृत, हिन्दी एव भारतीय भाषाओ के प्रचार प्रसार के लिए सतत प्रयास आदि की पुन स्थापना के लिए उन्होने देश भर म अनक सस्थाओ, प्रतिष्ठानो आदि की स्थापना की। सत्य तो यह है कि मालवीय जी मनसा, वाचा, कमणा हिन्दू थे और हिन्दू आदर्शों के प्रचार और प्रसार क लिए जिय और उन्ही क लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर दिये।

पत्रकारिता के क्षेत्र म दैनिक हिन्दुस्तान, लीडर, हिन्दी के प्रचार के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन, धम के क्षेत्र म सनातन धम प्रतिनिधि सभा, शिक्षा क क्षेत्र म हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी मान्यताओ और आस्थाओ क जीवन्त स्मारक हैं, जो युगो तक हिन्दू समाज का पथ प्रदशन करत रहग।

हिन्दू धम के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करत हुए मालवीय जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "हिन्दू धम की नीव किसी व्यक्ति विशेष, देवदूत या सन्त क विचारो पर नही है, अपितु एस सत्य सिद्धान्तो पर है जो तक पर टिक सकें तथा अनुभव-गम्य है। किसी भी देश व काल म

मनुष्य मात्र के लिए हितकर मार्ग दिखाते हैं। ईसाई व मुसलमान आदि मतों में न तो मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति के ही सिद्धान्त हैं और न उन्होंने पुनर्जन्म को ही माना है।

मालवीय जी ने भी लोकमान्य तिलक द्वारा प्रदर्शित हिन्दू परिभाषा को स्वीकार किया था—

सिन्धु नदी से सागर तक फैले इस विशाल देश को जो लोग अपनी मातृभूमि, पितृभूमि और पुण्य भूमि मानते हैं, वे सब हिन्दू ही हैं।

आ सिन्धु सिन्धु पर्यन्ता, यस्य भारत भूमिका॥
पितृ भू पुण्य भूश्चैव, स वै हिन्दू इति स्मृत॥

इससे स्पष्ट है मालवीय जी भी हिन्दू किसी सम्प्रदाय विशेष को नहीं मानते थे यह जीवन-पद्धति को ही हिन्दू मानते थे। हिन्दू किसी सम्प्रदाय या मजहब का नाम नहीं यह तो एक भौगोलिक नाम ही है। मालवीय जी ने हिन्दुस्तान को हिन्दुओं का देश घोषित करते हुए काशी में आयोजित हिन्दू सभा के अधिवेशन में बड़े ही स्पष्ट एवं निर्भीक शब्दों में कहा था कि—

"हिन्दुस्थान हमारा देश है। संसार में हिन्दू जाति का दूसरा कोई देश नहीं। अन्य जातियों के लिए तो दूसरे देश भी हैं, पर हिन्दुओं के लिए केवल हिन्दुस्थान ही है। उनके लिए यह सर्वस्व है। यही उनकी मूर्ति और मन्दिरों का स्थान है। अतः इस देश में सुख शान्ति स्थापित करने का दायित्व उन्हीं का है। इस देश में रहने वाले अन्य सम्प्रदायों से भी प्रेमपूर्वक उन्हें रहना है पर साथ ही उन्हें यह भी सोचना है कि आखिर मेल क्यों नहीं है? यह तो हर आदमी जानता है कि कमजोर और शहजोर (बलवान) में प्रीति नहीं होती, और यह कहते हमारे हृदय को दुःख होता है कि इस समय हमारे हिन्दू भाई समाज की रक्षा करने के लिए कमजोर हो गये हैं। हमारे अपमान के कारण मुसलमान नहीं हैं हमारी दुर्बलता ही उसका प्रमुख कारण है। हमको यह दुर्बलता दूर करनी होगी।"

मालवीय जी हिन्दुत्व को ही भारतीयता का आधार मानते थे। वह मानते थे कि सम्पूर्ण विश्व में मात्र हिन्दू जाति ही है, जो वेद शास्त्रों में

अगाध श्रद्धा रखती है और धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों को अपने व्यवहार में कार्यान्वित करने का प्रयास करती रहती है। हिन्दुत्व ने जिस आध्यात्मिकता को अपने जीवन व्यवहार में स्थान दिया है, अन्तत विश्व भर के मानवों को उसी छाव तले प्रश्रय और शान्ति प्राप्त होगी।

भौतिकता के विलासी जीवन में अन्तत परेशान होकर विश्व मानव अध्यात्म की ओर जब प्रवृत्त होगा तो उस समय हिन्दुत्व ही उसका सम्बल बनेगा। अत विश्व मानवता के परित्राण के लिए भी हिन्दुत्व और हिन्दू जाति का विश्व में सुदृढ, स्वस्थ एवं शक्ति-सम्पन्न होना आवश्यक है। हिन्दुत्व ही भारतीय राष्ट्रीयता का मूल आधार है। इसके नष्ट होने या परित्याग से भारतीय राष्ट्रीयता की पल्लवित बेल स्वय ही मुरझा कर समूल नष्ट हो जायेगी। अत विश्वमानव को सुरक्षा का अभयदान देने वाली हिन्दू जाति की सुरक्षा, इसका पल्लवन, सवर्धन भारत की राष्ट्रीयता के हित में तो है ही विश्व मानवता के हित में भी है क्योंकि इस जाति की सोच क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता आदि के सकुचित और सकीर्ण परिधि से उठकर विश्व मानव के कल्याण की ओर सदा प्रवृत्त रही है। इस जाति के मनीषियों ने ईश्वर से सदा यही मांगा है कि हे प्रभो! ससार के सब प्राणी सुखी हों, सभी प्राणी नीरोग हों, सभी प्राणी जीवन में सुख और आनन्द का भोग करें। किसी भी प्राणी को कभी भी कोई कष्ट न हो।

सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुख भाग्भवेत॥

प्राणी मात्र की कल्याण की कामना का उल्लेख वे जातियां नहीं कर सकती जो किसी विशिष्ट पूजा पद्धति को ही मानती हों। इतनी व्यापक दृष्टि की कल्पना उनसे नहीं की जा सकती।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्री मालवीय जी एक सच्चे राष्ट्र भक्त एवं महान हिन्दू थे। उन्होंने जीवन भर हिन्दू धर्म के आदर्शों को आत्मसात करके अपने व्यक्तित्व और वक्तृत्व में हिन्दू जीवन के आदर्शों का प्रचार और प्रसार किया। हिन्दुत्व को भारतीय राष्ट्रीयता का मूल आधार मान कर उन्होंने गो रक्षा, संस्कृत का प्रचार, हिन्दू संस्कृति के प्रचार और प्रसार के लिए [illegible]

विद्यालय की स्थापना की। सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा की स्थापना कर सम्पूर्ण भारत में विशेषत पंजाब, सिंध, सीमा प्रांत में हिंदू धर्म की रूढ़ियों पर निर्मम आघात करते हुए सनातन धर्म के सच्चे एवं उदात्त रूप को प्रखरता प्रदान की। हरिजनों को हिन्दू धर्म का अंग मानकर आर्यसमाज के समान सनातनी हिंदुओं को भी शुद्धि की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप लक्षावधि हरिजन बन्धु अपने मूल हिन्दू धर्म में लौट आये। इन्हीं की प्रेरणा से ही सनातन धर्म जगत ने हजारों पुत्री (कन्या) पाठशालाएं खोल कर स्त्रियों में फैली निरक्षरता को दूर किया। इन्हीं की प्रेरणा से ही राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन सरीखे हिंदी प्रेमियों ने उत्तर प्रदेश की अदालतों में हिंदी का प्रचलन कराया। यह मालवीय जी की ही प्रेरणा थी कि लोगों ने ग्राम-ग्राम में पाठशालाएं और मन्दिरों का निर्माण कर उन्हीं के साथ व्यायाम शालाएं और गो-सदनों का एक विस्तृत जाल बिछाया था। सत्य तो यह है कि मालवीय जी हिंदू समाज के उत्थान के लिए ही जन्मे थे। आजीवन उसी की भलाई के लिए संलग्न रहे और अंत में उन हिंदुओं के ऊपर होने वाले अत्याचारों को सहन न करते हुए इस संसार से विदा हुए।

यह एक सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् १९४६ में भारत में अंतरिम सरकार के शासन काल में बंगाल प्रदेश के अंतर्गत नवाखाली में जब मुस्लिम लीग के गुंडों ने हिंदू स्त्रियों पर बलात्कार कर अत्याचार किये और हिंदुओं की सम्पत्ति जला कर उन्हें कत्ल किया तो इस समाचार के आघात को वह (मालवीय जी) सहन न कर सके। हिंदुओं की इस मार्मिक व्यथा पर आंसू बहाते हुए उन्होंने प्राण त्याग दिये। उन्हें इस बात का बहुत दुःख था कि उनके सहयोगी हिंदुओं पर होने वाले अत्याचारों को रोकने में असमर्थ रहे। मृत्यु से पूर्व हिंदुओं के नाम अंतिम संदेश में हिंदू-संगठन, हिंदू जागरण की कातर पुकार सन्निहित थी। उनके शब्दों में, 'जो हिंदुओं को शान्ति के साथ नहीं रहने देना चाहते, उनके साथ किसी भी प्रकार की सहिष्णुता नहीं हो सकती।'

इस प्रकार आजीवन हिंदू जीवन के आदर्शों का प्रचार प्रसार करते हुए मालवीय जी १२ नवम्बर, १९४६ को सायं ४ बजकर १८ मिनट पर स्वर्ग सिधार गये।

आधुनिक मनु डा० भीमराव अम्बेडकर

"गुणा पूजा स्थान गुणिषु न च लिंग न च वय"

ससार मे पूजा गुणो की होती है, गुणवान स्त्री है या पुरुष, छोटा है या बडा, वह किस वर्ग से है आदि का विचार नही किया जाता।

"मन्दिर, तालाब, कुएँ आदि अछूत वर्ग के लिए भी सुलभ होने चाहिए। व भी आखिर हिन्दू है। फिर एक हिन्दू के लिए नियम दूसरे और अन्य के लिए पृथक नियम क्यो? एक सम्मान का पात्र और दूसरा अपमान व उपेक्षा का पात्र क्यो? क्या अछूत हिन्दू नही है। है तो फिर यह भेद भाव क्या?

+ + +

"श्री राम की पूजा करने का अछूतो को भी वैसा ही अधिकार है जैसा कि सवर्ण हिन्दुओ को है।"

हिन्दू समाज मे व्याप्त असमानता और अस्पृश्यता को सर्वथा दूर करने के लिए कृत सकल्प डॉ० अम्बेडकर ने ये विचार क्रमश १९२७ मे एव नासिक के राम मन्दिर के दर्शन के लिए उद्यत सहस्त्रावधि दलित बन्धुओ के बीच कहे थे। जन्म से वर्ण-व्यवस्था मानने वाले कतिपय धर्म ध्वजी हिन्दुओ ने हिन्दू हिन्दू के बीच जो विसगति और विषमता निर्माण कर दी थी, डा० अम्बेडकर उस दुरवस्था के भुक्त भोगी थे। उन्होने तथा कथित अदूरदर्शी धर्म ध्वजियो द्वारा निर्मित भेद भाव का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया

विद्यालय की स्थापना की। सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा की स्थापना कर सम्पूर्ण भारत में विशेषत पंजाब, सिंध, सीमा प्रान्त में हिन्दू धर्म की रूढ़ियों पर निर्मम आघात करते हुए सनातन धर्म के सच्चे एवं उग्र रूप को प्रखरता प्रदान की। हरिजनों को हिन्दू धर्म का अंग मानकर आर्यसमाज के समान सनातनी हिन्दुओं को भी शुद्धि की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप लक्षावधि हरिजन बन्धु अपने मूल हिन्दू धर्म में लौट आये। इन्हीं की प्रेरणा से ही सनातन धर्म जगत ने हजारों पुत्री (कन्या) पाठशालाएं खोल कर स्त्रियों में फैली निरक्षरता को दूर किया। इन्हीं की प्रेरणा से ही राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन सरीखे हिन्दी-प्रेमियों ने उत्तर प्रदेश की अदालतों में हिन्दी का प्रचलन कराया। यह मालवीय जी की ही प्रेरणा थी कि लोगों ने ग्राम-ग्राम में पाठशालाएं और मन्दिरों का निर्माण कर उन्हीं के साथ व्यायाम शालाएं और गो-सदनों का एक विस्तृत जाल बिछाया था। सत्य तो यह है कि मालवीय जी हिन्दू समाज के उत्थान के लिए ही जन्मे थे। आजीवन उसी की भलाई के लिए संघर्ष करते रहे और अन्त में उन हिन्दुओं के ऊपर होने वाले अत्याचारों को सहन न करते हुए इस संसार से विदा हुए।

यह एक सर्वविदित ऐतिहासिक तथ्य है कि सन १९४६ में भारत में अंतरिम सरकार के शासन काल में बंगाल प्रदेश के अन्तर्गत नवाखाली में जब मुस्लिम लीग के गुंडों ने हिन्दू स्त्रियों पर बलात्कार कर अत्याचार किये और हिन्दुओं की सम्पत्ति जला कर उन्हें कत्ल किया तो इस समाचार के आघात को वह (मालवीय जी) सहन न कर सके। हिन्दुओं की इस मार्मिक व्यथा पर आंसू बहाते हुए उन्होंने प्राण त्याग दिये। उन्हें इस बात का बहुत दुख था कि उनके सहयोगी हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों को रोक ने में असमर्थ रहे। मृत्यु से पूर्व हिन्दुओं के नाम अन्तिम सन्देश में हिन्दू संगठन हिन्दू जागरण की कातर पुकार सन्निहित थी। उनके शब्दों में 'जो हिन्दुओं को शान्ति के साथ नहीं रहने देना चाहते, उनके साथ किसी भी प्रकार की सहिष्णुता नहीं हो सकती।'

इस प्रकार आजीवन हिन्दू जीवन के आदर्शों का प्रचार प्रसार करते हुए मालवीय जी १२ नवम्बर, १९४६ को सायं ४ बजकर १४ मिनट पर स्वर्ग सिधार गये।

आधुनिक मनु डा० भीमराव अम्बेडकर

"गुणा पूजा स्थान गुणिषु न च लिंग न च वय "

संसार में पूजा गुणों की होती है, गुणवान स्त्री है या पुरुष, छोटा है या बड़ा, वह किस वर्ग से है आदि का विचार नहीं किया जाता।

"मन्दिर, तालाब, कुएं आदि अछूत वर्ग के लिए भी सुलभ होने चाहिए। वे भी आखिर हिन्दू हैं। फिर एक हिन्दू के लिए नियम दूसरे और अन्य के लिए पृथक नियम क्यों? एक सम्मान का पात्र और दूसरा अपमान व उपेक्षा का पात्र क्यों? क्या अछूत हिन्दू नहीं है। है तो फिर यह भेद भाव क्यों?

+ + +

"श्री राम की पूजा करने का अछूतों को भी वैसा ही अधिकार है जैसा कि सवर्ण हिन्दुओं को है।'

हिन्दू समाज में व्याप्त असमानता और अस्पृश्यता को सर्वथा दूर करने के लिए कृत-संकल्प डॉ० अम्बेडकर ने ये विचार क्रमशः १९२७ में एवं नासिक के राम मन्दिर के दर्शन के लिए उद्यत सहस्त्रावधि दलित बन्धुओं के बीच कहे थे। जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले कतिपय धर्म ध्वजी हिन्दुओं ने हिन्दू हिन्दू के बीच जो विसंगति और विषमता निर्माण कर दी थी, डॉ० अम्बेडकर उस दुरवस्था के भुक्त भोगी थे। उन्होंने तथा कथित अदूरदर्शी धर्म ध्वजियों द्वारा निर्मित भेद भाव का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया

था। उस दुर्व्यवहार ने उनके उत्साह को मन्द नहीं किया, अपितु दुर्व्यवहार रूपी गरल को पीकर वह नीलकंठ बन गये और उन्होंने आजीवन दलितों के उद्धार का दृढ़ संकल्प ले लिया और उन्हें हिंदू समाज में ससम्मान बने रहने का साहस बंधाया। वह चाहते तो अन्य धर्म में दीक्षित होकर अपने करोड़ों दलितों का धर्मांतरण कर हिंदू समाज को अपार क्षति पहुँचा सकते थे। उनके सामने अनेक विकल्प और प्रलोभन भी थे, परन्तु उनका व्यक्तित्व महान था, उनकी चिन्तनधारा, जीवन-दर्शन बहुत ही उदार और उच्चकोटि का था। भारतीय संस्कृति जो हिन्दू संस्कृति का ही अपर नाम है उससे वह पूर्णतः परिचित थे। वह जानते थे कि हिंदू समाज के कतिपय लोगों की भूल का दोष सम्पूर्ण समाज पर नहीं डाला जा सकता। जिस समाज के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार "पिता वैद्य हैं पुत्र चरवाहा, मां उपले थापने का काम करती है, तब भी सभी एक ही घर में ससम्मान रहते थे। उस समाज में वर्ण व्यवस्था जन्म से कैसे मानी जा सकती है? जहाँ गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं अपने मुख श्री से कहा है कि गुणों और कर्मों के विभाजन के आधार पर मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।"

वहां यदि कुछ भ्रमित लोग अपने भाइयों की उपेक्षा करते हैं तो उनसे संघर्ष ही करना होगा न कि उनके आगे नतमस्तक होना होगा। इस तथ्य से डाक्टर साहब भली भांति अवगत थे इसलिए उन्होंने दलितों का मसीहा बनकर सामाजिक समानता के लिए संघर्ष करना ही उचित समझा, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली।

महान चिन्तक डाक्टर अम्बेडकर राजनीतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक सुधार पर अधिक बल देते थे। एक स्थान पर उन्होंने हिंदुओं के धार्मिक और सामाजिक नेतृत्व के समक्ष बड़ी स्पष्टता से कहा था कि आज की दुनिया में ऐसा भी कोई समाज है जिसमें अछूत हों, जिनकी परछाई और दृष्टि मात्र से दूसरे लोग गन्दे हो जायें? क्या कोई ऐसा भी समाज है, जिसमें अपराधशील जन जातियाँ हों, क्या कोई ऐसा भी समाज

है जहाँ पुरान लोग जगलो म रहन हो और जो वस्त्र तक पहनना न जानते हो ? एम लोगो की कितनी सख्या है ? मैं समझता हू ऐसे लोगो की बहुत बडी सख्या है। दुर्भाग्य है कि ऐसे लोग करोडो की सख्या मे है। करोडो अछूत, करोडो अपराधशील जातियाँ, करोडो अपराधशील कबीले है। कोई यह विचार कर सकता है कि हिंदू सभ्यता, क्या वास्तव म सभ्यता है अथवा कोई अपकीर्ति ?

हिन्दू समाज म व्याप्त इस विसगति और विषमता को दूर करन के लिए उन्होंने आजीवन प्रयास किया और भारतीय सविधान के अन्तगत अस्पृश्यता के इस कलक को अपराध घोषित करते हुए अपराधी को दण्ड दने की व्यवस्था भी की। जिससे स्वाधीन भारत म लोगो म पर्याप्त चेतना आयी और दलितो मे अपनी अस्मिता और स्वाभिमान की भावना का भी उदय भी हुआ।

स्वाधीन भारत के सविधान निर्माता एव आधुनिक भारत के 'मनु' डॉक्टर अम्बेडकर का जन्म १४ अप्रैल १८९१ को महाराष्ट्र प्रदेश के रत्नागिरि म एक महार परिवार मे हुआ था। महार जाति बहादुर, निर्भीक प्रतिभाशाली और साहसी मानी जाती है। इनके पिता सेना मे सूबेदार मेजर थे। भीमराव रामजी अम्बेडकर को आध्यात्मिकता विरासत मे मिली थी। सत तुकाराम तथा ज्ञानेश्वरजी के भजन इनके परिवार मे बडी मस्ती से गाये जाते थ। इनके दादाजी एव पिताजी सेना म रहे थे, इस लिए साहस, वीरता एव सत्य की गाथाएँ इन्हे उनके श्रीमुख से सुनने को मिली थी। धार्मिक वातावरण एव परिवेश से जुडे रहन के कारण आगे चलकर इनके जीवन म भी कबीर की सी अक्खडता, तुलसी के समान विनम्रता और सहनशक्ति तथा अन्याय और अत्याचार के समक्ष न झुकने की भावना आ गयी। देश म शिक्षा प्राप्त करन के उपरान्त इन्होंन विदेशो मे अध्ययन कर कानून की उच्चतम उपाधि प्राप्त की तथा देश म लौटकर समाज और देश सेवा मे स्वय को अर्पित कर दिया। स्कूली जीवन म ही इन्हे सामाजिक विषमता और भेद भाव के कटु अनुभवो से दो चार होना पडा। इन्ही अनुभवो ने इन्हे आग चलकर ब्राह्मण विरोधी बना दिया।

ब्राह्मण एवं जन्मगत वर्ण व्यवस्था के विरोधी होते हुए भी डॉ० अम्बेडकर देश भक्ति और भारत भक्ति की भावना से ओत प्रोत थे। देश बटवारे के समय यदि वे चाहते तो हिन्दू समाज के भीतर की भेद भाव की भावना को अंग्रेजों के समक्ष उजागर कर उनसे दलितों के लिए पृथक भूमि की माँग करके देश को मिलने वाली स्वाधीनता में व्यवधान डाल सकते थे।

अंग्रेजों ने इस भावना को भड़काने और इनके अनुयायियों को गठित करने का प्रयास भी किया था, परन्तु देश भक्ति की भावना में ओत प्रोत डाक्टर साहब ने इस प्रकार की पृथकता की भावना को सर्वथा नकार दिया। स्वाधीनता आन्दोलन के समय उनकी देश भक्ति पर प्रश्न चिह्न लगाकर समाज में भ्रान्ति फैलाने वाले कतिपय लोगों को फटकारते हुए उन्होंने कहा था कि—'मैं मानता हूँ कि उच्च कहे जाने वाले हिन्दुओं के साथ मेरा कुछ बातों में मतभेद है। लेकिन मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने देश की रक्षा के लिए मैं अपनी जान भी दे दूँगा।"

डॉ० साहब ने अपने जीवन में वर्षों तक सामाजिक असमानता के कटु अनुभवों का विषपान किया था, इसलिए उन्होंने अपने दलित भाइयों के उत्थान के लिए एवं हिन्दू समाज में उन्हें सम्मानित स्थान दिलाने के लिए, उपलब्ध सभी मंचों में देश विदेश में अपनी बात कही। समाज में अछूत कहे जाने वाले भाइयों के मन्दिर प्रवेश और मूर्ति दर्शन के लिए अनेकानेक सत्याग्रह भी किए। उन्हें उनके लिए बन्द तालाब, कुआँ एवं वर्जित सार्वजनिक स्थानों पर ले जाने के लिए सफल आन्दोलन भी किये और अवसर मिलने पर भारतीय संविधान में दलितों उपेक्षितों, महिलाओं आदि के वर्गों के लिए समान अधिकार एवं सुविधाएं दिलाने की व्यवस्था भी की जिसे संविधान सभा ने एक स्वर से स्वीकृति प्रदान की।

हिन्दू समाज में अब तक उपेक्षित दलितों, जन जातियों एवं सामाजिक पिछड़ेपन के शिकार भाई-बहिनों के लिए शिक्षा, नौकरी, रोजगार आदि में स्थानों की सुरक्षा की व्यवस्था कराकर उन्हें समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष लाने के प्रयास में सफलता प्राप्त की।

निस्सन्देह गांधीजी एवं अन्यान्य धर्माचार्यों और समाज-सेवियों ने भी

इन्हें इस गुरुतर कार्य में पर्याप्त सहायता दी। इससे पूर्व आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द एवं उदार सनातनी नेताओं ने भी हिन्दू-समाज की इस विसंगति की ओर ध्यान दिलाकर सम्पूर्ण समाज को इस पर नई दृष्टि अपनाने की प्रेरणा दी थी तो भी डॉ० अम्बेडकर के प्रयासों का अपना विशेष महत्त्व है, जिसका मूल्यांकन हम भावी इतिहासकारों पर छोड़ते हैं।

हिन्दू समाज में सदियों से व्याप्त इस अस्पृश्यता और भेद-भाव की बुराई को एक साथ तोड़ पाना अपने आप में एक कठिन काम था। इस लिए डॉक्टर अम्बेडकर के जीवन में एक समय ऐसा भी आया जब उन्होंने हिन्दू धर्म को छोड़ने का मन बनाया। उस समय इस्लाम और ईसाईयत के प्रचारकों ने उन्हें अपने धर्म में दीक्षित होने के निमन्त्रण तक भी दे डाले, परन्तु डॉ० साहब जैसे विचारक, मनीषी एवं चिन्तक ने इस बात पर गम्भीरता से विचार किया और एक स्थान पर कहा कि वह इस्लाम या ईसाई धर्म में प्रवेश कर वह भारत की मिट्टी से अपने सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहते। भारत और भारतीयता उन्हें प्राणों से भी प्यारी है। उपर्युक्त धर्मों के आचार्यों को डा० अम्बेडकर के निर्णय से निराशा हुई। हिन्दुओं की जन्म जात वर्ण व्यवस्था से क्षुब्ध होकर अन्ततः उन्होंने बौद्ध धर्म की शरण ली। बौद्धों को तो वह हिन्दू ही मानते थे। उन्हीं के द्वारा बनाये गये भारतीय संविधान में उन्होंने हिन्दुओं के अन्तर्गत बौद्ध, जैन और सिक्ख पंथ का समावेश किया था। उन्हें बौद्ध धर्म में वर्ण व्यवस्था का अभाव अच्छा लगा। इसलिए हजारों दलितों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर वर्ण-व्यवस्था के प्रति अपना रोष व्यक्त किया था।

महान विचारक एवं चिन्तक डॉ० अम्बेडकर ने बौद्ध मत में दीक्षित होकर भी अपने एक मित्र को ३० अक्तूबर १९५६ को एक पत्र लिखकर बताया कि "हम उन जन समुदायों को बौद्ध धर्म के ज्ञान की शिक्षा देने के लिए साधनों तथा विधियों पर विचार करना है, जिन्होंने तथागत के 'धम्म' को स्वीकार कर लिया है और मेरे कहने पर उसे ग्रहण करेंगे। मैं चिन्तित हूँ कि सब को अपने दृष्टिकोण में संशोधन करना पड़ेगा और

एका तवासी बनने की अपक्षा भिक्षुओ को ईसाई मिशनरियो और धार्मिक और सामाजिक प्रचारको के समान बनना होगा।"

उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वह स्थिरता और जडता की अपक्षा गतिशीलता, समय और युगानुकूल आचरण को पसन्द करते थे। दूसरो के जीवन की अच्छाइया और गुणो को ग्रहण कर अपना माग प्रशस्त करना उन्हे भला लगता था—

"वतमानेन कालेन विचरन्ति विचक्षणा"

सस्कृत साहित्य की यह उक्ति उनके जीवन पर पूण रूप से चरिताथ होती है।

सक्षेप म यह कहा जा सकता है कि भारतीय सस्कृति के उपासक एव हिन्दुत्व की त्रुटियो का परिष्कार कर उसे युगानुकूल स्वरूप प्रदान करने म सघषरत डॉ० अम्बेडकर न अनेकानेक कटुताओ का शिकार होकर भी हिन्दुत्व के सवधन म अपनी काय पद्धति स योगदान किया था। उनके योगदान को भावी इतिहास म स्वर्णाक्षरो म लिखा जाएगा।

स्वातंत्र्य वीर सावरकर

आसिन्धु सिन्धु पर्यन्ता यस्य भारत भूमिका ।
पितृभू पुण्य भूश्चैव हिन्दुरित्याभिधीयते ।।

सागर से लेकर सिन्धु तक फैली सम्पूर्ण भारत भूमि को मातृभूमि, पितृभूमि और पुण्य भूमि मानने वाला व्यक्ति ही हिन्दू कहलाता है न कि किसी विशिष्ट उपासना पद्धति को मानने वाला । अर्थात् उपासना पद्धति कुछ भी हो, इस धरती को मातृ पितृ और पुण्य भूमि के रूप में मान्यता देना आवश्यक है ।

साहसी एवं रूढ़ि विरोधी

प्रखर राष्ट्र-भक्त वीर सावरकर हिन्दुस्थान को हिन्दू राष्ट्र मानते थे और हिन्दू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों के खंडन के लिए अपनी वाणी और लेखनी द्वारा आजीवन संघर्षरत रहे । उन्हें रूढ़िवाद से घृणा थी । रूढ़ियों को तोड़कर व्यक्ति और राष्ट्र को अद्यतन बनाना उनके जीवन का लक्ष्य था । प्राचीनता का आदर करते हुए भी वह 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के विरुद्ध थे । उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त जाति प्रथा का विशद विवेचन करने के उपरांत इस जातिगत या जन्मना न मानकर कर्मानुसार ही माना है । अपने कर्मों से शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और ब्राह्मण शूद्र, इस स्मृति वाक्य का सम्बल लेकर इन्होंने जातीय आधार पर लोगों को छोटा

बड़ा ऊँच नीच, मानने वालों को बुरी तरह से फटकारा है। उनका दृढ़ विश्वास था कि काल या परिस्थिति विशेष में कार्य विभाजन के आधार पर बनी वर्णाश्रम व्यवस्था जन्म से नहीं मानी जा सकती।

इसी प्रकार हिन्दुओं की गलतियों के फलस्वरूप विधर्मी बने कोटिश हिन्दुओं के स्वधर्म में प्रत्यावर्तन के लिए हम सभी को प्रयत्नशील ही नहीं अपितु सक्रिय सहयोग देना चाहिए। शुद्धि कार्यक्रम के कारण स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की गयी थी, इसी से इन्हें कष्ट हुआ। इस पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए सावरकर जी ने लिखा था कि हिन्दुओं की शुद्धि या प्रत्यावर्तन के लिए बड़े बड़े शुद्धि यज्ञों की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए तो तुलसीदल मिला जल पीना व्यक्ति या व्यक्तियों पर छिड़कना ही पर्याप्त है। हिन्दुओं से बिछड़ कर विधर्मियों के चक्कर में फँसे हिन्दुओं और हिन्दु समाज सुधारकों को सम्बोधित कर उन्होंने कहा था कि धर्म का निवास हृदय में है, पेट में नहीं। अर्थात यदि किसी व्यक्ति ने परिस्थिति विशेष में या भूलकर अथवा विवश किये जाने पर यदि किसी मुसलमान या ईसाई के घर का खाना खा लिया हो तो उससे वह हिन्दू धर्म से पतित नहीं हो जाता। हिन्दुत्व इतना कमजोर और दुर्बल नहीं है जो किसी विधर्मी के घर खाना खाने या पानी पीने से समाप्त हो जाए। हिन्दुत्व तो एक जीवन-पद्धति और विचार है जो हृदय में रहता है न कि पेट में। अतः खाने पीने से कुछ भी नहीं बिगड़ता। यदि किसी को फिर भी कोई सन्देह हो या कहीं मन के कोने में दुर्बलता लगे तो वह तुलसीदल मिश्रित जल पीने या अपने ऊपर छिड़कने से ही निष्पाप और पवित्र हो जाता है। यह कार्य व्यक्तिगत भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप में भी। इस विषय पर उनके विचार पूर्ण रूप से युगानुकूल थे। वे हिन्दू धर्म से सम्बद्ध सभी प्रथाओं और परम्पराओं को आँख मूँदकर स्वीकार करने के पक्ष में न थे। इन प्रथाओं और परम्पराओं के गुणावगुणों का विचार कर हानिकारक प्रथा को छोड़ने एवं युग की कसौटी पर खरी उतरने वाली प्रथा को स्वीकार करने के पक्ष में थे। इस उदारवादी एवं सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण उन्हें रूढ़िवादी वर्ग का विरोध भी झेलना पड़ा, पर वे अपने सत्य परायण स्वभाव एवं अपने स्पष्ट दृष्टिकोण के प्रतिपादन द्वारा

सभी बाधाओं को निरस्त कर आगे बढते रहे। वीर सावरकर एक सच्चे हिन्दू थे। उन्हे हिन्दू होने का गर्व था। अपनी हिन्दुत्व नामक पुस्तक मे उन्होने तर्कपूर्ण शैली मे प्रतिपादित किया कि इस देश का नाम हिन्दुस्थान और इस देश के लोगो को हिन्दू नाम किसी ने नही दिया। यह नाम हमारे पूर्वजो ने अपने लिए स्वयं रखा था और उन्हे इस पर गर्व था। देश मे बाहर से आक्रान्ता बन कर आये मुसलमानो ने हमे यह नाम नही दिया जैसा कि कहा जाता रहा है। हिन्दू नाम से हीनता का आभास पा कर जो लोग अपने को आर्य कहने का प्रयत्न कर रहे थे, उन लोगों को लक्ष्य कर श्री सावरकर ने उन्हे कहा कि जैसे मनुष्य की शक्ति का मूल उसके अहं की प्रतीति मे निहित रहता है, इसी प्रकार हमारे हिन्दू राष्ट्र का भी अहं हिन्दू शब्द मे निहित है। इस शब्द की अनुभूति मे ही हमारे इस बीस करोड (अब अस्सी करोड) महान राष्ट्र का अस्तित्व है। उस का स्वतन्त्र व्यक्तित्व इसमे समाया हुआ है। इस हिन्दुत्व के ध्वज के नीचे इधर उधर के पेटू और बाजारुओं को छोडकर आज भी कोटिश जन एक राष्ट्र, एक प्राण, एक व्यक्ति बन कर स्वतन्त्र राष्ट्रीय अस्तित्व का उपभोग करना चाहते हैं। इन करोडो लोगो को एक सूत्र मे जोडने वाला यह हिन्दू शब्द एक महामन्त्र है। डेढ सौ करोड (अब यह संख्या तीन सौ करोड से अधिक है) मानव मात्र के महासम्मेलन मे यदि कोई यह आह्वान करे कि 'रे हिन्दू उठ' को उसके प्रत्युत्तर मे इस मानव समूह मे जो बीस करोड (अब 60 करोड से भी अधिक) लोग खडे होंगे वे हिन्दू ही हैं। हम करोडो लोग जिस महामन्त्र से एक रूप होकर उठ खडे होते है। वह मन्त्र हिन्दू शब्द ही है। हमम पूर्व के कुछ आर्य होंगे, या अनार्य होंगे। ब्राह्मण होंगे या भंगी होंगे, द्रविड होंगे या अहीर होंगे, यक्ष—नाग—किन्नर होंगे, सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी होंगे, पंजाबी या मालाबारी होंगे, स्पृश्य होंगे, या अस्पृश्य होंगे, गुरखा या गुसाईं होंगे, जैन या सिख, शैव या वैष्णव, और गौर या श्याम, ऊँचे या ठिंगने, स्त्री या पुरुष, ये सारे भेदभाव जिस एक महामन्त्र के सांचे मे ढल कर करोडो लोग एक-रस एक रूप, एक गुट, एक राष्ट्र होकर उठते हैं, वह ऐन्द्रजालिक महान मन्त्र रूपी सांचा हिन्दुत्व ही है। जैसे अंग्रेज विभिन्न नस्लो, कौमो और सम्प्रदायो मे

विभक्त होते हुए मातृभूमि की उपासना मे एक होते है, वस ही हम जाति-पाति, प्रान्त भाषा आदि किसी से भी सम्बन्धित क्या न हो, जिसकी यह आसिन्धु सिन्धु पयन्त भारत भूमि पितृभूमि और पुण्यभूमि होगी, व सब हिन्दू हैं। इस दो अक्षर के एक शब्द मे हम करोडो लोग आज भी समाए हुए हैं।"

इस हिन्दू शब्द का प्रयोग हमारे लिए वैदिक युग के मन्त्रो म सप्त-सिन्धु, के रूप म प्रचलित रहा है। उस आदिकाल से लेकर दिल्ली के अन्तिम हिन्दू शासक पृथ्वीराज चौहान के दरबारी चन्द्रबरदाई के काव्य मे बडे गव से हिन्दू शब्द का उल्लेख उपलब्ध है। इससे पूव भविष्य पुराण, गुरु तगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह प्रभृति युग पुरुषो के काव्य म भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

कई क्षेत्रो मे प्रथम

वीर सावरकर का नाम याद आते ही एक ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व स्मृति म उभर आता है जिसने जननी-जन्मभूमि के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया और जो भारतीय स्वाधीनता सग्राम का जन्मजात योद्धा ही नही रहा, वरन उच्च कोटि का देशभक्त, समाज सेवक, साहित्यकार, इतिहासकार तथा राजनीतिज्ञ भी रहा। जिसने झनझनाती हुई हथकडियो और बेडियो मे स्वतन्त्रता की वीणा का स्वर सुना और कैदी को मिलने वाले काले कम्बल को देशभक्त के मनमोहक परिधान के रूप मे अपनाया। सचमुच कितना महान् था वह व्यक्ति। पचास वष की लम्बी अमानुषिक यातनाए और काले पानी की काल कोठरी जिस मानव का सकल्प और निश्चय नही डिगा सकी और गांधी की आंधी जसे प्रतिकूल वचारिक झझावात मे भी अकेला अपने हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू सगठन के सिद्धान्त पर अडिग रहा, उसको तो महामानव की सज्ञा दी जानी चाहिए। जीवन मे किसी को एक प्रतियोगिता परीक्षा या उद्यम-उद्योग म एक बार प्रथम स्थान (फस्ट) मिल जाए तो कितना गौरव मानता है। किन्तु देखिये उस महापुरुष की ओर जो प्रतिभा, साहस, मौलिकता और विद्रोह न जाने कितने कार्य-कलापो म प्रथम रहा। सावर

कर सबसे पहले ऐसे बैरिस्टर थे, जिन्हे अंग्रेजी सरकार ने उनके राजनीतिक विचारो के कारण बरिस्टरी की डिग्री देने से इनकार कर दिया। इतना ही नही, वह किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय के पहले स्नातक थे, जिनकी डिग्री देश की स्वाधीनता के पुजारी होने के कारण वापिस ले ली गई। भारत की स्वाधीनता को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व दिलाने का सबसे पहला और सफल प्रयास भी सावरकर ने ही किया। सावरकर ऐसे सवप्रथम भारतीय लेखक थे जिनकी कृति को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली और यह ख्याति भी उनकी पुस्तक की दो सरकारो द्वारा प्रकाशन मे पूव ही जब्ती। ब्रिटिश अदालत की सत्ता को सिर न झुकाने वाले प्रथम भारतीय विद्रोही नता सावरकर ही थे। ससार के इतिहास मे सावरकर ही एकमेव ऐसे कैदी थे जिसकी गिरफ्तारी का मामला हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से लडा गया था। ससार के राजनीतिक इतिहास म सावरकर ही पचास वष की देश से निष्कासन की सजा पाने वाले सवप्रथम राजनीतिक बन्दी थे। वही ससार के पहले एसे कवि थे, जिसने बिना कागज और कलम जेल की दीवारो पर काटो और पत्थरो से कविताए लिखी और उनकी दस हजार पक्तिया तब तक कठस्थ रखी, जब तक कि वे उनके साथियो द्वारा अण्डमान म भारत नही पहुचा दी गइ। यदि सहस्त्रो वर्षों तक आर्यों ने वेदो को श्रुति सम्मत ही बनाए रखा तो क्या आश्चय?

महान् क्रान्तिकारी

वीर सावरकर अपने विद्यार्थी काल से ही क्रान्तिकारी रहे। स्वदशी आन्दोलन क दिनो मे लोकमान्य तिलक के नतृत्व मे विदशी कपडो की होली जलान का काय हो या अभिनव भारत के गठन का काय, इन्होने सारे राष्ट्र मे क्रान्ति का स्वर जागृत किया। कठोर कारावास और बन्दी जीवन की यातनाए इस क्रान्तिकारी को अपने दृढ निश्चय और सकल्प से विचलित न कर सके। इनके क्रान्ति के स्वर अण्डमान के कारागार म क्रान्तिकारियो को आशा का सदेश दिया। प्रख्यात क्रान्तिकारी पडित परमानन्द झासी वालो ने एक स्थान पर सावरकर को काले पानी के क्रान्तिकारियो का गुरु

बताया। वहां उन्होंने एक स्वाध्याय मण्डल खोला, जिसमे कैदी क्रांतिकारी इतिहास, राजनीति, साहित्य और दर्शन पढा करते थे। उस नालन्दा विश्वविद्यालय नाम दिया गया था। वीर सावरकर ने समय-समय पर देश के नागरिकों से सैनिक कौशल सीखने की अपील की और कई बार स्पष्ट किया कि साहित्यकारों की कलम के साथ साथ बन्दूक की भी आवश्यकता है। इस क्रांतिकारी ने अंग्रेजी सत्ता के अत्याचारों के आगे न झुकने का बीड़ा उठाया तथा अपने ढंग से स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान किया।

अखण्ड भारत के समर्थक

इनकी हार्दिक आकांक्षा थी कि भारत का विभाजन न हो और देश एक सुदृढ और अखण्ड रूप में विकसित तथा सम्पन्न हो। यही कारण है कि इन्होंने भारत के विभाजन की योजना से सहमति प्रकट न की और राजा जी को भी अपने युक्तिसंगत तर्क बताये। भारत के विभाजन को ये सबसे बड़ा अभिशाप मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने इस विषय पर अनेक लेख लिखे तथा इसके समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किये। क्रिप्स मिशन जब १९४१ ई० में भारत पहुंचा तो उसके प्रस्तावों में भारत के बटवारे की गुंजाईश थी। वीर सावरकर ने इसी कारण क्रिप्स के प्रस्ताव ठुकरा दिए।

लेखनी के धनी

तेजस्वी व्यक्तित्व के धनी वीर सावरकर लेखनी के धनी भी थे। उन्हें शिवाजी, महाराणा प्रताप और पेशवाओं के जीवन ने बहुत प्रभावित किया। अपने विचारों और उद्‌गारों को लेखनी द्वारा शब्दों का रूप देकर इन्होंने साहित्य का भण्डार भरा। उनके अनेक ग्रन्थों में १८५७ ई० का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, हिन्दू पद पादशाही और हिन्दुत्व प्रमुख हैं। उनके भाषणों के संकलन भी उपलब्ध हैं। अण्डेमान के जीवन के बारे में भी उनके लेख संकलित किए गए हैं।

हिन्दी के समथक

सावरकर जी को हिन्दी से अत्यन्त लगाव था। जब ये अण्डेमान मे कारावास मे थे तो उन्होने सब कदियो को हिन्दी सीखने सिखाने के लिए तैयार किया। उनका मत था कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। उन्होने अनेक लोगो को हिन्दी सिखाई। आज अण्डमान म भिन्न भिन्न भाषा भाषी भी समान रूप से हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। इसकी बुनियाद सावरकर के अण्डमान प्रवास मे ही रखी गयी थी और वहाँ हिन्दी का प्रचार उत्तरोत्तर बढता ही गया।

समाज सुधारक

सावरकर का समाज सुधारक रूप लन्दन म ही सामने आ गया था। उन्होने अंग्रेजी सभ्यता, खान-पान और रहन सहन के गुण-गान वाले भारतीय विद्यार्थियो को भारत के उच्च आदश तथा नैतिक मूल्यो की ओर आकर्षित किया। इसी प्रकार अस्पृश्यता निवारण, मन्दिर-प्रवेश, शुद्धि और खान-पान के क्षेत्र मे भेद भाव की रूढियो को तोडने के लिए पर्याप्त काय किया। उनका हिन्दू धम कदापि सकीण नहीं था। उन्होने धम और समाज को चेतन और सशक्त बनाने के अनेक प्रयत्न किय।

साहसी तथा दृढ निश्चयी

सावरकर के साहस और दढ निश्चय की कथा काले-पानी से जुडी हुई है। बन्दी के रूप म भारत लाये जाते समय वे समुद्र म कूद पडे। आजन्म कारावास के दौरान घोर यातनाए सहत हुए भी अध्ययनशील रहना, कोल्हू चलाते हुए भी देशभक्ति और स्वतत्रता की आग अपने हृदय म सुलगाये रखना उनके अद्वितीय साहस और दृढ निश्चय के परिचायक है। इन्होने देश सेवा का जो सकल्प लिया आजीवन उस पर डटे रहे।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि यह हिन्दू शब्द परकीयो का दिया हुआ नही। इसलिए इसके प्रयोग मे किसी भी प्रकार ग्लानि अनुभव करने का कोई कारण नही। हम गर्व से इस शब्द का प्रयोग अपने लिए कर सकते है जैसा कि हमारे पूर्वजो ने किया था। यह हमारा राष्ट्रीय नाम है इसमे ही विश्व मे हमारी पहचान है। दूसरो के कोष मे जिस शब्द का क्या अर्थ है इसकी चिन्ता करना बुद्धिमता का लक्षण नही है। हमारे पूर्वजो द्वारा अपने लिए स्वीकृत और आज तक प्रचलित हिन्दू और हिन्दुस्थान हमारे राष्ट्र के अहभाव के परिचायक हैं। अत इसके गौरव को अक्षुण्ण बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना ही हमारा परम श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

श्री गुरुजी माधवराव सदाशिव गोलवलकर

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं यद् भारतं नाम भारती यत्र संतति ॥

"जिस पुण्यभूमि के उत्तर में हिमालय है और दक्षिण में सागर, उस देश का नाम भारत है और वहाँ रहने वाले लोग भारती अर्थात हिन्दू हैं।"

"यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रही। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्र-जीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुए। सम्पत्ति एवं सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए, श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न एवं एकात्मकता से युक्त समाज की स्थापना के लिए अपने को समग्र जीवन समर्पित करने वाले संत-महात्मा ही इसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। वे धर्म-सत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। यही धर्मसत्ता समाज को छिन्न विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही है।"

हिन्दू समाज के इस जीवन दर्शन के प्रतिपादक श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी) का जन्म पूज्य माता श्रीमती लक्ष्मीबाई तथा पिता श्री सदाशिवराव गोलवलकर के घर १९ फरवरी १९०६ ई० को नागपुर में हुआ था। अलौकिक प्रतिभा के धनी श्री गुरु जी ने विश्व-

विद्यालय पूर्व की कक्षाओं में जहाँ अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया, वहां १९२- में काशी विद्यालय से प्राणी शास्त्र में एम० एस० सी० की परीक्षा पास करने के उपरान्त तथा एक वर्ष तक शोध करने के पश्चात् वहीं प्राध्यापक हो गये। वहाँ वह अपनी कर्तव्य-परायणता छात्रों की हित चिन्तन एवं मृदु स्वभाव के कारण छात्रों में 'गुरुजी' के नाम से सम्बोधित किये जाने लगे। अपने माता पिता के भक्तिपूर्ण संस्कारों ने इन्हें आध्यात्मिकता की प्रेरणा दी, फलतः काशी विश्वविद्यालय की संघ शाखा से जुड़ जाने पर भी इन्होंने एकबार सभी कुछ छोड़कर कलकत्ता के पास सारगाछी आश्रम में पहुंचकर वहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंसजी के शिष्य स्वामी अखण्डानन्द से दीक्षा ग्रहण की।

डा० हेडगेवार (संस्थापक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) जी ने गुरुजी में संगठन करने की क्षमता को देखा था। उन्होंने सोचा कि गुरुजी को व्यक्तिगत साधना एवं स्वयं की मुक्ति की ओर से रोकना होगा। अपने क्षीण होते स्वास्थ्य को देखते हुए संघ के कार्य में रत प्रमुख स्वयंसेवकों के परामर्श से उन्होंने गुरुजी को सरसंघचालक मनोनीत कर दिया तथा २० जून १९ ९ को उन्होंने गुरुजी से कहा कि "अब यह कार्य और सारे कार्यकर्ता तुम्हारे जिम्मे है। इस विशाल हिन्दू संगठन को आगे ले जाने का दायित्व आप पर है।" २१ जुलाई १९३९ को कार्य-कर्ताओं के मध्य श्री गुरुजी सरसंघचालक घोषित किये गये थे। श्री गुरुजी के आदेश पर कार्यकर्त्ता प्रचारकों की टोलियां भारत भर में संघ कार्य के प्रसार के लिए निकल पड़ी और इधर गुरुजी ने देश का सतत भ्रमण करते हुए रेल के डिब्बे को ही मानो अपना स्थायी आवास बना लिया। वर्ष में दो बार सारे देश का दौरा करते हुए उन्होंने समाज में 'संघे शक्ति कलौ युगे' का शंखनाद फूंककर आत्म विस्मृत हिन्दू समाज में प्राण फूंक दिये। फलतः विदेशी शासकों द्वारा अनेकानेक बाधाएं खड़ी किये जाने पर भी १९४५ तक संघ-कार्य देश के सुदूरवर्ती प्रदेशों जिलों और तहसीलों और कस्बों तक जा पहुंचा।

इसी बीच देश में चल रहे स्वाधीनता संग्राम के आन्दोलन को देखते हुए सरकार ने संघ की निरंतर बढ़ रही शक्ति को कुंठित करने के अनेक

विफल प्रयास किये और अस्थाई रूप से इसे प्रतिबंधित करने के आदेश भी दिये, पर इससे संघ-कार्य निरंतर आगे ही बढ़ता गया। विदेशी शासन तथा सत्ता के प्रतिबंधो ने स्वयंसेवको के मन के उत्साह को और भी प्रचण्डता प्रदान की। १५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हो गया। गांधीजी ने देश को अखंड बनाने का जो संकल्प लिया था, वह संकल्प टूट गया। "मेरी लाश पर देश का विभाजन होगा", उनका उक्त कथन विफल हो गया। कांग्रेस खंडित भारत की सत्ता संभालने को तैयार हो गयी। अंग्रेजो और मुस्लिम लीग का देश विभाजन का षड्यंत्र सफल हो गया। फलत सम्पूर्ण देश मे और विशेषत बंगाल, पंजाब, सिंध और सीमा प्रांत म मुस्लिम लीग ने पाशविकता का नग्न तांडव आरंभ कर लक्षावधि निरीह हिंदू स्त्रियो, बच्चो और पुरुषो को मौत के घाट उतारना शुरू किया। इसमे अंग्रेज शासक मूकदर्शक होकर हिंदुओ को देश भक्ति और भारत भक्ति का उपहास करते हुए सबक सिखाने लगे। इस आकस्मिक हृदय विदारक विपत्ति के समय इन क्षेत्रो म संघ के सहस्रो स्वयंसेवको ने जान की बाजी लगाकर अपने भाई बहिनो की प्राण रक्षा की और अपने प्राणों से खेलकर भी निरीह स्त्रियो, बच्चो और पुरुषो को मौत के मुह म बचाया। इन हजारो स्वयंसेवको के बलिदान की गाथाए इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो मे सदा अंकित रहगी। इधर भारत म आने को विवश हिंदुओ की सहायता क लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने 'हिंदू सहायता समिति' के नाम से एक विशाल संगठन खडाकर लोगो के पुनर्वास म सहायता का महत्त्वपूर्ण कार्य कर अपने पुनीत कर्तव्य का पालन किया।

इस सम्पूर्ण कार्य के पीछे परमपूजनीय गुरुजी की सतत प्रेरणा कार्य कर रही थी। वस्तुत स्वयंसेवको ने वही कार्य आत्म प्रेरणा से किया जिसकी शिक्षा उन्हे संघ स्थान और संघ शिक्षा वर्गो मे वर्षो से मिल रही थी। अभी भारत देश विभाजन और स्वतंत्रता की पीडा से उबर नही पाया था कि नाथूराम गौडसे नामक युवक ने गाधीजी की ३० जनवरी १९४८ को गोली मारकर हत्या कर दी। इससे सारा राष्ट्र स्तब्ध रह गया। पर सरकार ने इस अवसर पर संघ की बढती हुई शक्ति से ईर्ष्या करते हुए गुरुजी एव संघ के पदाधिकारियो को जेल म डाल दिया। गुरुजी ने

स्वयंसेवकों पर आई अप्रत्याशित विपत्ति को देखते हुए संघ को भंग कर दिया तो भी सरकार ने संघ पर प्रतिबन्ध लगाकर सहस्रों संघ के स्वयंसेवकों को जेलों में डाल दिया। इधर महाराष्ट्र, आंध्र आदि प्रदेशों में संघ विरोधियों विशेषत साम्यवादियों और कांग्रेस और वाम पंथियों ने खुल्लम-खुल्ला लोगों को भड़का कर संघ के स्वयंसेवकों और महाराष्ट्र के ब्राह्मणों की चल और अचल संपत्ति को लूटने और जलाने का उपक्रम शुरू कर दिया। फलत करोड़ों की सम्पत्ति और असंख्य लोगों को जान से हाथ धोने पड़े।

नाथूराम गोडसे के अदालती केस में जब संघ का कोई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष हाथ साबित नहीं हो सका, तब श्री गुरुजी ने जेल से ही सरकार को पत्र लिखे कि वह या तो संघ को दोषी सिद्ध करें अन्यथा उसमें प्रतिबन्ध उठा ले। सरकार ने इस सद्भावना का कोई उत्तर नहीं दिया और इस मामले को वह टालती गयी। समझौते के सारे प्रयत्न असफल होने पर दिसंबर सन् १९४६ में गुरुजी के आदेश से अहिंसक सत्याग्रह शुरू किया गया। जिसमें लगभग एक लाख स्वयंसेवकों ने अपने अनुशासन और शील का परिचय देते हुए स्वयं को गिरफ्तारी के लिए पेश किया। इस अहिंसक आंदोलन में भी पुलिस और अधिकारियों का व्यवहार स्वयंसेवकों के साथ अत्यन्त निंदनीय और घृणा परक था। अनेक स्वयंसेवकों को इतनी यातनाएं दी गयी कि वे आज तक भी उससे उबर नहीं सके।

उन दिनों सरकार चाहती थी कि संघ को राजनीतिक दल का रूप दिया जाए पर वह इसमें सफल न हो सकी। गुरुजी जानते थे देश में चरित्र निर्माण, सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं समाज के रचनात्मक स्वरूप के बिना राजनीति बहुत उथली होती है। इसलिए सरकार और सरकार से बाहर के प्रभावी व्यक्तियों के दबावों को नकारते हुए श्री गुरुजी ने संघ कार्य को राजनीति के पंकिल वातावरण से दूर रखने में सफलता प्राप्त की। अन्तत संघ से प्रतिबन्ध हटा और कुछ ही समय बाद देश भर में पुन संघ का कार्य पूर्ववत चलने लगा। निराशा के बादल छंट जाने से और श्री गुरुजी और संघ के प्रमुख पदाधिकारियों के भ्रमण के फलस्वरूप देशभर में फैली

सहस्रों शाखाओं पर भगवा ध्वज फहराने लगा और भारत माता की जय का शब्द लक्षावधि युवकों को प्रेरणा प्रदान करने का कारण बना।

इसी बीच हिन्दू धर्म की मान बिन्दु गोमाता की हत्या रोकने के लिए गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों का आह्वान किया। गुरुजी का संकेत एक आदेश था। फलतः संघ द्वारा देश भर के चार करोड़ वयस्कों के हस्ताक्षर कराकर उन्हें राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इससे संघ के स्वयंसेवकों को जन संपर्क और जन-जागरण का जो अवसर मिला उसमें सम्पूर्ण हिन्दू समाज आन्दोलित हो उठा। सन १९६६ नवम्बर का गोहत्या निरोध आन्दोलन वस्तुतः इस प्रयास का ही चरम फल था, जिसने केन्द्र की सरकार को जनशक्ति का परिचय भली भांति करा दिया था। इसके फलस्वरूप १९६७ के आम चुनावों में कांग्रेस अनेक प्रदेशों में पराजित हो गयी।

भारतीय जनसंघ की स्थापना जो वस्तुतः १९५२ के चुनावों से पूर्व हुई थी, उसके लिए भी डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के अनुरोध पर श्री गुरुजी ने संघ के कतिपय तपे तपाये कार्यकर्ताओं को राजनीतिक क्षेत्र में भेजा था। उन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप जनसंघ का आधारभूत चरित्र हिन्दू परम्परा मूलक रहा। हिन्दू धर्म के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और मतमतान्तरों के प्रवर्तक और पोषक विभिन्न सन्तों, महात्माओं और मठाधीशों को एक मंच पर लाकर हिन्दुत्व की आधारशिला को और भी सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए श्री गुरुजी ने १९६६ में प्रयाग में 'विश्व हिन्दू-परिषद' की स्थापना कराई जिससे देश भर में बिखरी सम्पूर्ण हिन्दू शक्ति को एक मंच पर आने का अवसर मिला। इसका बहुत अच्छा परिणाम निकला। सभी मठाधीशों और सन्तों महात्माओं ने आपसी मत-भेद भुलाकर एक मंच पर आकर आदिशंकराचार्य की परम्परा को पुनर्जीवित किया। इस ऐतिहासिक सम्मेलन में साधु महात्माओं ने अपने लिए और हिन्दू सर्व साधारण के लिए भी ऐसे निर्णय लिए, जिनके दूरगामी परिणामों से विघटित हिन्दुओं को संगठित होने की प्रेरणा मिली। इस बीच श्री गुरुजी की प्रेरणा से संघ के तपोनिष्ठ प्रचारक एकनाथ रानाडे सुदूर दक्षिण में कन्याकुमारी गये, जहाँ उन्होंने विवेकानन्द शिला-स्मारक की स्थापना कर

माँ पार्वती की पूजा स्थली सागर स्थित चट्टान पर मन्दिर की स्थापना की। इस दुरूह और कठिन कार्य में उन्हें वर्षों तक ईसाई मिशनरियों का कोप भाजन बनना पड़ा, अदालतों में केस चले। तटवर्ती क्षेत्र में झगड़े हुए पर कार्य में सफलता प्राप्त करूंगा अन्यथा मृत्यु का वरण करूंगा, इस महान संकल्प के साथ कार्य में जुटे श्री एकनाथ अंततः अपने उद्देश्य में सफल हुए और देशभर से एकत्रित धनराशि वहाँ विवेकानन्द स्मारक ही नहीं बना अपितु मीलों में फैले विवेकानन्द पुरम का निर्माण भी हुआ। हिन्दू धर्म की पताका की छाया में उस क्षेत्र के अहिन्दू जिनके पुरखों को कभी दबाव या लालच में धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया गया होगा, वे सब प्रत्यावर्तन संस्कार के अन्तर्गत अपने धर्म में प्रसन्नता पूर्वक लौट रहे हैं। यह प्रक्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी।

इस प्रकार लगभग तैंतीस वर्ष तक अपनी तप साधना से सम्पूर्ण देश में संघ कार्य का विस्तार करते हुए और अनेक झंझावातों से हिन्दू धर्म की इस सतत प्रज्वलित दीप शिखा को जाज्वल्यमान रखते हुए अपने रक्त से भारतभूमि का सिंचन कर उन्होंने ५ जून १९७३ को महाप्रयाण किया। इससे पूर्व अप्रैल मास में उन्होंने एक पत्र में अपने उत्तराधिकारी के रूप में श्री मधुकर दत्तात्रेय देवरस की नियुक्ति कर दी।

महानिर्वाण से पूर्व उन्हें कैंसर के रोग ने आ घेरा था। आप्रेशन के बाद भी इस रोग से वे मुक्त न हो सके। यद्यपि इस रोग से थोड़ा ठीक होने पर गुरु जी ने देश भर का प्रवास किया था, पर फिर भी इससे उन्हें पर्याप्त पीड़ा हुआ करती थी। उन्हें देहावसान का आभास तो हो गया था पर वह अपने जीवन का एक एक क्षण राष्ट्र और समाज की सेवा में व्यतीत करने के लिए प्रतिनिश्चित थे, जिसका निर्वाह उन्होंने प्राणान्त तक किया। अपने निधन से पूर्व बद्रीनाथ तीर्थ में जाकर उन्होंने अपना श्राद्ध भी किया था। वह आजीवन ब्रह्मचारी थे, इसलिए स्वयं का श्राद्ध करना उन्होंने उचित समझा।

कैंसर जैसे कष्टदायक रोग से रहते हुए भी उनका प्रवास क्रम जारी रहा। यद्यपि रोग के कारण उसमें मन्थरता आनी स्वाभाविक थी। यदि

वह कुछ देर विश्राम करते तो सम्भवतः वे स्वस्थ होकर और अधिक समय हमारे बीच प्रेरणा स्रोत बन सकते थे, पर उन्होंने सतत गतिमान रहकर जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वयंसेवकों को प्रेरणा देने का क्रम जारी रख एक विशिष्ट आदर्श की स्थापना की, जो युगों-युगों तक भावी पीढ़ियों को राष्ट्र और समाज के लिए जीवन के अंतिम क्षण तक सतत कार्यशील बने रहने की प्रेरणा देती रहेगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परम पूज्य श्री गुरुजी ने डॉक्टर हेडगेवारजी द्वारा स्थापित संघ को एक उच्च सांस्कृतिक धरातल का स्वरूप प्रदान किया और उसकी शाखाओं-उपशाखाओं को पुष्पित-पल्लवित कर ऐसे वटवृक्ष का रूप दिया जो असंख्य झंझावातों और प्रलयकारी तूफानों के बीच भी हिन्दू समाज को पूर्णतः संघटित कर, इसके बीच व्याप्त दोष त्रुटियों को दूर कर इस विश्व के उन्नत एवं विकसित समाजों के बीच प्रतिष्ठित करने में अचिरात सफलता प्राप्त करेगा।

जीवनी-साहित्य

१	नैतिक मूल्यो के प्रहरी	तनसुखराम गुप्त
२	प० दीनदयाल उपाध्याय महाप्रस्थान	तनसुखराम गुप्त
३	हिन्दी सेवी शिक्षक	तनसुखराम गुप्त
४	जीवन के कुछ क्षणो मे (सस्मरण)	तनसुखराम गुप्त
५	छत्रपति शिवाजी	सत्य शकुन
६	स्वातन्त्र्य सेनानी तात्या टोपे	सत्य शकुन
७	क्रातिकारी वासुदेव बलवत फडके	सत्य शकुन
८	क्रातिकारी चद्रशेखर आजाद	सत्य शकुन
९	झासी की रानी लक्ष्मीबाई	सत्य शकुन
१०	मेवाड का सूर्य महाराणा प्रताप	सत्य शकुन